प्रारम्भिक बौद्ध धर्म संघ एवं समाज

शिवाकान्त बाजपेयी

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म-संघ एवं समाज

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म-संघ एवं समाज

डॉ. शिवाकान्त बाजपेयी

ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रथम संस्करण 2002

© शिवाकान्त बाजपेयी

मूल्य : रु. 500

प्रकाशक :
ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स
(प्राच्य-विद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
29/5, शक्ति नगर, दिल्ली-110 007
दूरभाष : 011-7451485

लेज़र टाइपसेटिंग :
श्री बालाजी कम्प्यूटर
दिल्ली-110 035
फोन : 7108270

मुद्रक :
तरुण ऑफसेट,
दिल्ली

समर्पण

मुझे सदैव अपने स्नेह से अभिसिञ्चित करने वाले पूज्यनीय पिताजी पं० सन्तकुमार बाजपेयी एवं माताजी श्रीमती सुनीता बाजपेयी को सादर समर्पित।

पुरोवाक्

बौद्ध धर्म का उद्भव, उसका भारत वर्ष के विभिन्न प्रदेशों एवं भारत के बाहर के देशों में प्रसार एक ऐतिहासिक व्यापार है। इसमें बुद्ध की शिक्षाओं के साथ–साथ बौद्ध संघ की भी महती भूमिका रही है। लम्बी अवधि से विद्वान इन दोनों के विवेचन में प्रयासरत है। निश्चित ही अध्ययन के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं, किन्तु सत्य की समग्रता को पकड़ने में एक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं होता। अन्य दृष्टिकोणों की तुलना में एक दृष्टिकोण को अधिक महत्वपूर्ण मानना अन्वेषक का पक्षपात है न कि यथार्थ; फिर भी अन्वेषक के लिए उसका दृष्टिकोण एक बड़ा सम्बल होता ही है।

बौद्ध धर्म पर होने वाले विविध अध्ययनों में उसका सामाजिक पहलू कम महत्व का नही है। इतिहासकार के लिए तो इसका कुछ अधिक ही महत्व है क्योंकि गंभीर चिन्तन समाज के धरातल पर सुग्राह्य होकर ही उतरता है। बुद्ध की शिक्षाओं के साथ ही यही हुआ। ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त गौतम सात सप्ताह गया में रहे। अजपाल न्यग्रोध के नीचे बैठे हुए उनके मन में वितर्क हुआ – "मैंने गंभीर दुर्दर्शन, दुर्ज्ञेय, शान्त उत्तम, तर्क से अप्राप्य इस धर्म को पा लिया है। यह जनता काम तृष्णा में रमण करने वाली, कामरत है, काम में प्रसन्न है। मैं यदि धर्मोपदेश भी करूँ और दूसरे उसको न समझ पावें तो मुझे पीड़ा होगी।" सहापति ब्रह्मा ने उनके सामने उपस्थित होकर कहा, 'सुगत धर्मोपदेश करें, दुनिया में अल्पमति वाले प्राणी भी हैं, धर्म के न सुनने से वे नष्ट हो जायेंगे।' भगवान ने धर्मोपदेश के लिए सहापति ब्रह्म की बात मान ली। (महावग्ग 1.1–3–5)

कालान्तर में संघ बना। बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों के अतिरिक्त उपासक-उपासिकायें भी उसके अंग थे। इस प्रकार समाज बौद्ध धर्म से पूरी तरह जुड़ गया। बुद्ध के उपदेशों को समाज तक ले जाने के लिए भिक्षु भी

धर्मोपदेश करने लगे। महावग्ग (2.1–4) में इसका रोचक वर्णन मिलता है। एक बार मगधराज बिम्बिसार ने भगवान से कहा – इस समय दूसरे मत वाले परिव्राजक चतुर्दशी, पूर्णमासी और पक्ष की अष्टमी को इकट्ठा होकर धर्मोपदेश करते हैं। उनके पास लोग धर्म सुनने के लिए जाया करते हैं, वे दूसरे मत वाले परिव्राजकों के प्रति प्रेम और श्रद्धा करते हैं और दूसरे मत वाले परिव्राजक अनुयायी पाते हैं। क्यों न आर्य लोग भी चतुर्दशी, पूर्णमासी और पक्ष की अष्टमी को एकत्र हो। बिम्बिसार के परामर्श पर बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा – भिक्षुओं, अनुमति देता हूँ चतुर्दशी, पूर्णमासी और पक्ष की अष्टमी को एकत्र होने की। भिक्षु लोग इन दिनों एकत्र होकर चुपचाप बैठते थे। जो मनुष्य धर्मोपदेश सुनने के लिए आते थे वे हैरान होते थे, कैसे शाक्यपुत्रीय श्रमण एकत्रित होकर चुपचाप बैठते हैं जैसे गूंगे भेड़। एकत्रित होकर तो धर्मोपदेश करना चाहिए। तब भिक्षुओं ने भगवान से यह बात कही। उत्तर में भगवान ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया – भिक्षुओं, अनुमति देता हूँ चतुर्दशी, पूर्णमासी और पक्ष की अष्टमी को एकत्रित हो धर्मोपदेश करने की।

धर्मविनय के विकास में उपासकों की स्पष्ट भूमिका रही है। बौद्ध धर्म में उपोसथ के प्रचलन में उपर्युक्त प्रसंगों का बड़ा महत्व है।

ऐसे ही अन्य बहुतेरे प्रसंगों का भी धर्म विनय में योगदान रहा है। चुल्लवग्ग (1–3–1) में वर्णन मिलता है कि एक बार एक उपासक ने कीटागिरि के दो आवासिक भिक्षुओं अश्वजित एवं पुनर्वसु के अनाचार का सन्देश बुद्ध के पास भेजा था और बुद्ध ने सारिपुत्र और मोग्गलान को भेजकर उन दोनों भिक्षुओं का प्रव्राजनीय कर्म कराया था। प्रतिसारणीय कर्म का विधान चित्र गृहपति के कारण हुआ था। भिक्षु सुधर्म ने चित्र गृहपति से रुष्ट होकर मच्छिकासंड आवास त्याग दिया। जब बुद्ध को यह घटना ज्ञात हुई तो उन्होंने सुधर्म को फटकारा और चित्र गृहपति से क्षमा मांगने को कहा (चुल्लवग्ग 1–4–5)। बहुत से भिक्षु वर्षावास वृक्ष के कोटरों में करते थे। उपासकों की प्रतिक्रिया स्वरूप बुद्ध ने उन्हें कोटर में निवास करने पर दुक्कट का दोषी कहा (चुल्लवग्ग 3–3–8)। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी

संघ पर उपासकों का नियंत्रण बना रहा। बुद्ध के निर्वाण के 100 वर्ष बीत गये थे। वैशाली में भिक्षु यश ने वज्जिपुत्रक भिक्षुओं के आचरण पर आपत्ति की और वे अपनी शिकायत उपासकों तक ले गये जिससे उपासक उन पर रोक लगा सके (चुल्लवग्ग सप्तशतिका स्कन्ध)। यह प्रसंग द्वितीय बौद्ध संगीति का कारण बना। सच बात तो यह है कि बौद्ध संघ के विकास एवं बौद्ध धर्म के प्रसार में समाज का बड़ा योगदान रहा है। राहुल सांस्कृत्यायन जी तो भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास का एक प्रमुख कारण भिक्षुओं का समाज से सम्बन्ध टूट जाना और परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म को समाज का सहयोग न मिलना मानते हैं (बुद्धचर्या, प्राक्कथन, पृ. 3–4)।

श्री शिवाकान्त वाजपेयी का प्रस्तुत अध्ययन प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के समााजिक पक्ष को उद्घाटित करता है। इस विषय पर प्रचलित परिचर्चा को नवीन तथ्यों के माध्यम से उन्होंने आगे बढ़ाया है। बौद्ध संघ के स्वरूप–निर्धारण एवं विकास में समाज के विविध वर्गों के योगदान पर श्री वाज़पेयी का पक्ष विचारणीय है। आशा है कि इस विषय पर कार्य करने वाले अध्येता एवं पाठक भी इस नवीन रचना का स्वागत करेंगे।

महेश्वरी प्रसाद
पूर्व आचार्य
प्रचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.)

आत्म-निवेदन

विरासत की सुदृढ़ नींव पर अवलम्बित भारत की सांस्कृतिक चिन्तनधारा सदियों से मनीषियों के अध्ययन का विषय रही है। संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में धर्म एवं समाज सहज रूप से उभरकर सामने आते हैं एवं दोनों एक दूसरे के पूरक दिखाई देते हैं। कभी धर्म समाज से प्रभावित होता दिखाई देता है, तो कभी समाज धर्म से, किन्तु स्पष्ट रूप से यह विभेद कर पाना कि कौन किससे किस सीमा तक प्रभावित होता है, निश्चित हेतु-भूत-प्रत्यय के अभाव में कठिन लगता है। यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन का प्रयास न केवल रोचक बल्कि अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है और यही कारण है कि छठी शताब्दी ई० पू० में अभ्युदय-प्राप्त बौद्ध धर्म-संघ में विविध जाति-वर्गो के योगदान को मैंने अपने अध्ययन का विषय बनाया है और इस अध्ययन में बौद्ध धर्म-संघ के सर्वतोभावेन समृद्धि और बहुआयामी विकास में समाज के विविध वर्गो की भूमिका की विवक्षा का प्रयत्न किया है। प्रसंगवश स्वयं बौद्ध धर्म-संघ ने समाज को कितना प्रभावित किया, जैसे तत्त्वों की भी आनुषंगिक विवेचना की गई है।

वस्तुतः प्रस्तुत ग्रंथ विक्रम विश्वविद्यालय की प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व अध्ययनशाला में पी.एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध "प्रारम्भिक बौद्ध धर्म–संघ के विकास में विविध वर्गों का योगदान" का प्रकाशित स्वरूप है।

निश्चय ही इस प्रकार के अध्ययन में पूर्व-अध्येताओं, गुरुजनों, सह-संधित्सुओं एवं सुधीजनों का सहयोग अपेक्षित होता है और सौभाग्यवश मुझे वह मिला भी। उन विद्वानों का, जिनके ग्रन्थों अथवा परामर्शो का अपने भाव-संवलन एवं मत-पुष्टि के लिए मैंने उपयोग किया है, पाद-टिप्पणी अथवा सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची के प्रसंग में ससम्मान उल्लेख किया है। गुरुजनों,

अन्य विशिष्ट परामर्शदाताओं और शुभाकांक्षियों के कृत सहयोग के प्रति कृतज्ञता अथवा धन्यवाद-प्रकाशन भी यहाँ अपना दायित्व मानता हूँ।

सर्वप्रथम मैं विभागाध्यक्ष महोदया, डॉ० (सुश्री) सुशीला पन्त के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। वस्तुतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उन्हीं के द्वारा समय-समय पर प्रदत्त परामर्शो से तर्कपूर्ण एवं समृद्ध हो सका। यहाँ पर अपने गुरु एवं शोध-निर्देशक डॉ० सीताराम दुबे के प्रति आभार व्यक्त करना मात्र औपचारिक एवं उनके द्वारा प्रदत्त सहयोग का न्यूनीकरण लगता है। यथार्थतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध तदनन्तर प्रकाशन उनके सतर्क पर्यवेक्षण, उदार छिद्रान्वेषण का ही सुफल है।

मैं विभागीय आचार्य डॉ० मस्तराम सिंह एवं डॉ० रहमान अली का तथा विभागीय प्रवक्ताद्वय डॉ० अशोक त्रिवेदी और डॉ० राम कुमार अहिरवार का भी आभारी हूँ जिनका प्रोत्साहन मेरे शोध-सम्पादन का सम्बल बना। मैं विभागीय उत्खनन-प्रभारी डॉ० धीरेन्द्र सोलंकी का भी आभारी हूँ जिन्होंने सदैव मुझे अपने कार्य के प्रति सचेत किया।

अपने शोध-कार्य के दौरान मैं मध्यप्रदेश और उसके बाहर के विद्वानों से भी परामर्श लेता रहा जिनमें प्रो० अजयमित्र शास्त्री (नागपुर विश्वविद्यालय), प्रो० विजय कुमार ठाकुर (पटना), डॉ० जय नारायण पाण्डेय एवं डॉ० हरिनारायण दुबे (इलाहाबाद), का योगदान अत्यन्त सार्थक एवं प्रभावोत्पादक रहा और एतदर्थ निश्चय ही उनका कृतज्ञ हूँ।

इस अवसर पर मैं सेवानिवृत्त उपाचार्य एवं वरिष्ठ प्राध्यापकद्वय, डॉ० श्याम सुन्दर निगम, तथा डॉ० जगन्नाथ दुबे, के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने सेवानिवृत्ति के उपरान्त भी मुझे सदैव सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त मैं अपने स्नेही शुभाशंसियों, डॉ० रामऔतार शर्मा (ग्वालियर), डॉ० जयदेव मिश्र (पटना), डॉ० पुरुषोत्तम प्रसाद वशिष्ठ, श्री चन्द्रहास दुबे, श्री राजेश मिश्र, डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र, डॉ० उमेशनाथ त्रिपाठी, डॉ० गुलाम हुसैन, प्रो० एस० एम० सलीम एवं महेश शर्मा (देवास), डॉ० आलोक श्रोत्रिय (सागर), डॉ० उषा अग्रवाल (मंदसौर), सुरेन्द्र आर्य तथा डॉ० रमण सोलंकी, श्री बसन्त स्वर्णकार (नई दिल्ली), श्री आशुतोष चौरे (खैरागढ़), श्री लोकेश गार्गव, विभाष उपाध्याय, शलभ पुरन्दरे, शरद

शर्मा (इन्दौर), रामनिवास यादव, उदयवीर सिंह सिकरवार (ग्वालियर), नितिन त्रिवेदी, नितिन मेहता, मुकेश शाह, रतन तनोरिया, प्रवीण सिंह (जयपुर) आदि, जिनका शोध-प्रबन्ध की सम्पन्नता में प्रत्यक्ष या परोक्ष स्नेहाभिसिक्त योगदान रहा, के प्रति आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त मैं विभागीय पुस्तकालय, केन्द्रीय ग्रन्थालय, विक्रम विश्वविद्यालय, केन्द्रीय ग्रन्थालय, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, सिन्धिया प्राच्य शोध संस्थान, उज्जैन, केन्द्रीय पुरातत्व ग्रंथालय तथा भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद ग्रंथालय, नई दिल्ली के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरी अपेक्षित सहायता की।

ग्रंथ के पुरोवाक् के लिए मैं डॉ० माहेश्वरी प्रसाद चौबे, आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का अत्यन्त आभारी हूँ। जिन्होंने इस ग्रन्थ के पुरोवाक् लिखने की कृपा की।

यहाँ पर मैं अपने पूज्यनीय अग्रज श्री श्रीकान्त बाजपेयी एवं भाभीजी श्रीमती अनुपमा बाजपेयी के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके स्नेह, सम्बल से मैं यहाँ तक पहुँच सका। यद्यपि श्री जुगल किशोर दीक्षित एवं श्रीमती ममता दीक्षित (जीजा एवं दीदी) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मात्र औपचारिकता होगी, वस्तुतः उनके सहयोग के अभाव में शोध–प्रबन्ध का सम्पादन कठिन होता।

इस ग्रंथ के सुन्दर प्रकाशन के लिए अग्रजतुल्य डॉ० राधेश्याम शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके व्यक्तिगत प्रयासों ये यह पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो सका है।

अन्त में मैं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिसके द्वारा प्रदत्त अनुदान शोध सम्पन्नता सहायक सिद्ध हुआ।

96, दमदमा कोठी रोड,
उज्जैन, मध्यप्रदेश–456010

शिवाकान्त बाजपेयी

संकेत-विवरण

अ०	अथर्ववेद
अ० नि०	अङ्गुत्तर निकाय
अ० व्या०	अङ्गुत्तर निकाय व्याख्या
इ० ए०	इण्डियन एण्टीक्वैरी
इ० रे० इ०	इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन्स एण्ड इथिक्स
इ० हि० क्वा०	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरर्ली
उ० सु०	उत्तराज्झयण सुत्त
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ०	ऋग्वेद
क० जा०	कट्ठहार जातक
खु० व्या०	खुद्दक व्याख्या
गौ० ध०	गौतम धर्मसूत्र
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
ज० इ० बु० स्ट०	जर्नल ऑव इण्डियन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज़
ज० इ० हि०	जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री
डाइलॉग्स	डाइलॉग्स ऑव दी बुद्ध
डिक्शनरी	डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स
तु०	तुलनीय
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता

थाणाङ्ग	थाणाङ्ग सुत्त
थेर	थेरगाथा
थेरी	थेरीगाथा
दी० नि०	दीघ निकाय
दी फिलासॉफी	दी फिलासॉफी ऑव सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
ध० अ०	धम्मपद अट्ठकथा
ध० व्या०	धम्मपद व्याख्या
ना० प्र०	नालन्दा प्रकाशन
नि० पा०	निसग्गिय पाचित्तिय
प० ब्रा०	पञ्चविंश ब्राह्मण
पा० इ० डि०	पालि इंग्लिस डिक्शनरी
पा० म०	पातञ्जल महाभाष्य
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
बु० आ० अ० स्ट०	बुलेटिन ऑव दी स्कूल ऑव दी ओरियण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज़
बु० डि०	दी बुक ऑव दी डिसिप्लिन
बु० व्या०	बुद्धवंश व्याख्या
ब्रेद्रेन	साम्स ऑव अर्ली बुद्धिस्ट, भाग 2, ब्रेद्रेन
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
भि० पा०	भिक्खुनी पातिमोक्ख
भिक्खु पा०	भिक्खु पातिमोक्ख
म० नि०	मज्झिम निकाय
मं० मू०	मंजूश्री मूलकल्प
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत

मे० आ० स० इ०	मेमायर्स आर्क्येलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
मोनास्टिक टर्म्स	डिक्शनरी ऑव अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स
यो० सू०	योग सूत्र
व० ध०	वशिष्ठ धर्मसूत्र
वि० चु०	विनय चुल्लवग्ग
वि० टे०	विनय टेक्स्ट
वि० पि०	विनय पिटक
वि० म०	विनय महावग्ग
वि० सु०	विनय सुत्तविभंग
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
सिस्टर्स	साम्स ऑव अर्ली बुद्धिस्ट्स, भाग 1, सिस्टर्स
सं० नि०	संयुक्त निकाय
समन्त	समन्त पासादिका
सु० नि०	सुत्त निपात
सु० व्या०	सुत्तनिपात व्याख्या
से० बु० इ०	सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट
सो० इ० ट्रे०	सोर्सेज़ ऑव इण्डियन ट्रेडीशन
स्ट० पा० बु०	स्टडी इन दी पालि एण्ड बुद्धिज़्म
स्ट० हि० बु०	स्टडी इन दी हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म
हि० अ०	हिन्दी अनुवाद

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

समर्पण (v)

पुरोवाक् (vii-ix)

आत्म-निवेदन (xi-xiii)

संकेत-विवरण (xiv-xvi)

अध्याय - 1 : भूमिका 1-14

विषय परिचय, प्रतिपाद्य शोध-अध्ययन का महत्त्व, साधन-स्रोत एवं प्रासंगिक शोध कार्यो की समीक्षा, प्रस्तावित अध्ययन का स्वरूप तथा अध्ययन प्रविधि

अध्याय - 2 : बौद्ध धर्म एवं उसके अभ्युदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 15-42

अ. भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, दार्शनिक

ब. बुद्ध की जीवनचर्य्या, धर्म एवं संघ का मौलिक स्वरूप एवं समाज

अध्याय - 3 : संघ के सदस्यों का वर्गीकरण एवं सांख्यिक विश्लेषण 43-67

अध्याय -4 : संघ के अग्रगण्य सदस्यों का परिचयात्मक अध्ययन 68-99

अध्याय - 5 : बौद्ध संघ के विकास में विविध वर्गो के योगदान का स्वरूप-विश्लेषण 100-129

सांख्यिक वृद्धि, भौगोलिक विस्तार, आर्थिक समृद्धि

अध्याय - 6 : वैचारिक समृद्धि एवं बौद्ध धर्म-संघ के नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन 127-169

अध्याय - 7 : परिनिर्वाणोत्तरकालीन धर्म-संघ **170-194**

बहुविध वृद्धि-समृद्धि, बुद्धानुशासन के संग्रहीकरण का प्रयास, संगीतियों का आयोजन, वैचारिक मत-मतान्तर एवं सम्प्रदाय भेद

अध्याय - 8 : उपसंहार **195-201**

सन्दर्भ-ग्रन्थ **202-215**

शब्दानुक्रमणिका **217-222**

प्रथम अध्याय

भूमिका

बौद्ध धर्म का उद्‌भव समकालीन परिवेश की महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसने न केवल तद्‌युगीन धर्मों को प्रभावित किया, बल्कि अपने समय के चिन्तन, मनन और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हो रहे सर्जनात्मक परिवर्तनों को भी प्रोत्साहित किया। धर्म एवं समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। धार्मिक परिवेश अपने समय के रीति-रिवाजों को प्रभावित करता है और स्वयं भी अपने समय की सामाजिक विचारणा से प्रभावित होता है और उसमें तदनुरूप परिवर्तन आता है। अतः स्वयं बौद्ध धर्म भी अपने समय में हो रहे बहुविध परिवर्तनों से बचा न रह सका। प्रस्तावित शोध प्रबन्ध में बौद्ध धर्म-संघ के स्वरूप-निर्धारण एवं उसमें हुए संशोधन-परिवर्द्धन में समाज के विविध वर्गों के योगदान की गवेषणा का प्रयास होगा। प्रस्तुत अध्याय में इस प्रकार के पूर्व में किए गए कार्यों की समीक्षा, प्रतिपाद्य शोध की महत्ता, अध्ययन के लिए उपयोगी शोध सामग्री, उसके प्रयोग के समय आने वाली कठिनाइयाँ, उनके समाधान के उपाय एवं अध्ययन-पद्धति की विश्लेषणा का प्रयत्न होगा।

बौद्ध धर्म के उद्‌भव एवं विकास के सामान्य अध्ययन से सुस्पष्ट है कि बौद्धयुगीन परिवेश न केवल सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टियों से अपितु धार्मिक-आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से भी परिवर्तनशील था।[1] यद्यपि यह सर्वतोभावेन् समृद्धि एकाएक उद्‌भूत न होकर क्रमिक विकास की सुफल थी। किन्तु यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि उपर्युक्त युगान्तरकारी तत्त्वों को चरम परिणाति बुद्धकाल में ही प्राप्त हुई।

छठी शताब्दी ई. पू. में प्रभाव-प्राप्त श्रमण परम्परा में बौद्ध धर्म का अपना विशिष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है। रोचक है कि गृही जीवन से प्रव्रजित हो सिद्धार्थ स्वयं के सतत् उद्योग से न केवल सम्यक् संबुद्ध बन

जाते हैं, वरन् सांसारिक दुःखों से द्रवित हो करूणा-प्रसूत वेदना के कारण लोगों को, भव-बाधा से निस्तारण हेतु मध्यममार्गी सद्धर्म के उपदेश का संकल्प लेते हैं, जाति, वर्ग-विहीन भिक्षु-संघ की स्थापना करते हैं, भिक्षुओं के लिए जीवनोपयोगी न्यूनतम आवश्यक अपरिहार्य वस्तुओं के रूप में चतुर्निश्रय-विधान बनाते हैं और सद्धर्म के प्रचार-प्रसार तथा जन-जागरण का उन्हें निर्देश देते हैं।

स्वयं बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षुओं की क्रियाशीलता से अनतिचिर स्वयं उनके समय में ही न केवल मज्झिमा जनपद, बल्कि उससे भी परे अवन्ति जैसे प्रत्यन्त जनपदों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार होता है। भिक्षु, उपासक एवं उपासिका के रूप में लोग दीक्षित हो हजारों की संख्या में संघ के सदस्य बनते हैं। संघीय नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन का सूत्रपात होता है, आर्थिक समृद्धता आती है, चतुर्निश्रय-विधान में अनेक अतिरेक लाभों की छूट मिलती है। किञ्चित् बाद में भिक्षुणियों के रूप में स्त्रियों के लिए भी संघ में प्रवेश की अनुज्ञा मिलती है और इस प्रकार भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका के रूप में "बौद्ध चतुष्परिषद" का गठन होता है।[2]

बौद्ध धर्म संघ के क्रमागत विकास एवं समाज के ऊपर बढ़ती निर्भरता के फलस्वरूप "एको चरो खग्ग विषाण कप्पो"[3] के स्थान पर "सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानां तपो सुखं"[4] का प्रभाव बढ़ता है। धीरे-धीरे संघ में वैचारिक मतभेद प्रारम्भ होता है, जिसके फलस्वरूप यह अनेक निकायों में विभाजित हो जाता है।[5]

सद्धर्म में बदलाव की प्रक्रिया, प्रचार-प्रसार और अत्यन्त सत्वर गति अनेक जिज्ञासाओं को जन्म देती है। बौद्ध धर्म के सामान्य अध्ययन तथा बुद्ध-वचनों के अनुशीलन से नियमों मे संशोधन-परिवर्द्धन, संघ की सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि की समाजपरक व्याख्या की ओर रूझान बढ़ती है। संघ के सदस्यों की संख्या-वृद्धि, उनकी सुविधा तथा समय एवं समाज की माँग के अनुरूप नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है।

बौद्ध धर्म ब्राह्मण-विरोधी क्षत्रिय-आन्दोलन अथवा श्रेष्ठि-गृहपति वर्ग

द्वारा पोषित सम्प्रदाय था[6] और सद्धर्म के उद्भव को प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के समान सम्बद्ध करने जैसी अवधारणाएँ अयुक्तियुक्त एवं एकाङ्गी लगती है। वस्तुतः इसमें समस्त जाति-वर्गों ने अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुरूप योगदान दिया। जहाँ वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि के लिए मुख्य रूप से ब्राह्मणों का स्मरण किया जा सकता है, वहीं आर्थिक समृद्धि में निश्चय ही श्रेष्ठि वर्ग का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व था।

अतः बौद्ध धर्म-संघ में किन जाति-वर्गों ने प्रवेश किया ? उनका आनुपातिक प्रतिनिधित्व क्या था और उनके प्रभाव में नियमों में क्या संशोधन-परिवर्द्धन हुए ? आदि की विवेचना एवं स्वरूप-विश्लेषण अपेक्षित लगता है। सौभाग्यवश प्रारम्भिक पालि साहित्य में संघ की सहायता करने वालों के न केवल नाम का सन्दर्भ प्राप्त होता है, अपितु उनके जाति, वर्ण आदि का भी स्मरण किया गया है। संघ-प्रवेश के पश्चात् भी यत्र-तत्र उनके जाति, वर्ग का उल्लेख लक्षित होता है। चतुष्परिषद के रूप में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र का सन्दर्भ मिलता है।[7]

अतः उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में ''बौद्ध धर्म संघ के प्रारम्भिक विकास में विविध वर्गों का योगदान'' का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में बौद्ध धर्म-संघ पर सामाजिक प्रभाव, विभिन्न सामाजिक वर्गों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व, उनके योगदान का स्वरूप विश्लेषण, नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन, आदि की व्यापक गवेषणा का भी प्रयत्न होगा।

श्रमण-परम्परा, विशेषकर बौद्ध धर्म दशाब्दियों से विद्वानों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है और सद्धर्म पर अब तक अनेक अध्ययन प्रतिपादित हो चुके हैं। ऐसे अध्ययनों में यत्र-तत्र प्रसंगवश बौद्ध संघ की भी चर्चा की गई है, लेकिन संघ के अध्ययन की दृष्टि से इनमें से अधिकांश ग्रन्थों में प्रायः सद्धर्म के स्वरूप की ही चर्चा है; परन्तु कम ही सही, बौद्ध धर्म एवं समाज के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से भी कुछ शोध हुए हैं, जिनमें से प्रतिनिधि अध्ययनों की समीक्षा यहाँ उपयोगी होगी।

बौद्ध धर्म–संघ सम्बन्धी आधुनिक अध्ययनों का सूत्रपात स्पेन्स हार्डी

महोदय के ग्रन्थ "ईस्टर्न मोनाशीज़्म" (1850) के प्रकाशन से स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इस समय तक पालि साहित्य के सुचारू प्रकाशन की परम्परा नहीं होने के कारण हार्डी महोदय के ग्रन्थ में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है और यह ग्रन्थ उनके द्वारा श्रीलंका में किए गए सर्वेक्षण से प्राप्त बौद्ध सामग्री पर आधारित है।

ओल्डेन बर्ग का, सन् 1822 में जर्मन भाषा में प्रकाशित और बाद में अंग्रेजी में अनूदित "बुद्ध : हिज़ लाइफ, हिज़ डॉक्ट्रिन एण्ड ऑर्डर" के भाग-3 "दि ऑर्डर ऑफ बुद्धाज़ डिसाइपुल्स" में संघ एवं विनय के नियमों की संक्षिप्त एवं सारगर्भित चर्चा तो है, परन्तु सामाजिक सन्दर्भों का प्रायः अभाव है। इसी प्रकार सन् 1881-85 ई० के मध्य ओल्डेन बर्ग एवं रीस डेविड्स के संयुक्त प्रयासों के प्रतिफल के रूप में "सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट" नामक ग्रन्थमाला का प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थमाला की अध्ययनमाला के अन्तर्गत "विनय टैक्स्ट्स" नाम से तीन भागों में विनय का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अपनी पाद-टिप्पणियों की दृष्टि से ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

आधुनिक काल में सद्धर्म के सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक अध्ययन की दृष्टि से टी० डबल्यू० रीस डेविड्स का कार्य अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इन्हीं के सद्प्रयासों के फलस्वरूप सन् 1881 में "पालि टेक्सट्स सोसाइटी" की स्थापना हुई, जिसमें पालि ग्रन्थों के अध्ययन एवं प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ हुआ। इनके द्वारा 1902 में प्रकाशित "बुद्धिस्ट इण्डिया" नामक ग्रन्थ में बुद्ध के परिनिर्वाणोत्तर की कुछ शताब्दियों के समाज का महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उन्होंने प्राचीन पालि साहित्य के आधार पर समकालीन भारतीय राजनीति, संस्कृति, समाज के साथ ही धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था का चिन्तन किया है। जिसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री तो उपलब्ध है, किन्तु सद्धर्म की सामाजिक मान्यता, समाज के ऊपर परस्पर एक दूसरे की निर्भरता, आदि की विवेचना नहीं दिखाई देती।

"कार्पोरेट लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया" (1918) के माध्यम से रमेशचन्द्र

मजूमदार महोदय ने बौद्ध भिक्षुओं के संगठित जीवन पर संक्षिप्त एवं सारगर्भित विश्लेषण प्रस्तुत किया है, परन्तु यह विश्लेषण मात्र एक अध्याय में ही सीमित है। अतः इसमें अनेक अपेक्षित महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समावेश नहीं हो सका है। यही बात कर्न महोदय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "मैन्युअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म" (1896) के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। "दी लाइफ ऑव बुद्ध ऐज़ लीजैण्ड एण्ड हिस्ट्री " (1921) में एडवर्ड जे० थामस महोदय ने गौतम बुद्ध की चारिका तथा धर्म-संघ के भौगालिक विस्तार का प्रामाणिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है और इन्होंने ही लगभग एक दशक बाद "द हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्ट थॉट" नामक एक अन्य सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया, जिसके प्रारम्भिक अध्यायों में भिक्षु-जीवन एवं संगठन और उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विवेचन का भी सार्थक प्रयास किया गया है।

"अर्ली बुद्धिस्ट ज्यूरिसप्रूडेन्स" (1939) नामक दुर्गा भागवत का ग्रन्थ विनयपिटक में उल्लिखित संघ सम्बन्धी सम्पादित कार्यों और उनके सिद्धान्तों की प्रस्तुति मात्र है। गोकुलदास डे के सन् 1955 में प्रकाशित "डमोक्रेसी इन अर्ली बुद्धिस्ट संघ" नामक ग्रन्थ में संघ सम्बन्धी प्रामाणिक विवरण दिया गया है। इसमें संघीय कार्यों के विवेचन के साथ तत्कालीन गणतंत्रीय क्रिया-विधान और संघीय विनय कर्म आदि में परस्पर सम्बन्ध देखने की चेष्टा की गई है। गोविन्द चन्द पाण्डे महोदय ने भी अपने ग्रन्थ "बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास" (1957) में बौद्ध धर्म के उद्भव एवं उसके स्वरूप तथा संघीय व्यवस्था का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित उद्घाटन किया है।

बौद्ध संघ के विकास की अवधारणा विषयक आधुनिक अध्ययनों में प्रामाणिक अध्ययन की दृष्टि से सुकुमार दत्त महोदय के ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है। इस दृष्टि से "अर्ली बुद्धिस्ट मोनाशीज़्म" में श्रमण परम्परा के उद्भव एवं विनय सम्बन्धी नियमों का सारगर्भित विवेचन है। कुछ अन्तराल के बाद प्रकाशित इनके ही ग्रन्थ "बुद्ध एण्ड फ़ाइव आफ्टर सेंचुरीज़" एवं "बुद्धिस्ट मांक्स एण्ड मोनास्टरीज़ इन इण्डिया" में भी लगभग इसी प्रकार का अध्ययन है। यत्र-तत्र विचरणशील जीवन के स्थान पर भिक्षुओं की निश्चित आवास-व्यवस्था एवं उनके संगठित जीवनयापन हेतु विनय सम्बन्धी नियमों के क्रमिक विकास की दृष्टि से तो दत्त महोदय

का कार्य उल्लेखनीय है, किन्तु सामान्य रूप से सद्धर्म के उद्‌भव एवं विकास तथा सर्वक्षेत्रीय वृद्धि-समृद्धि में सहायक भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं तथा विभिन्न वर्गों के योगदान के स्वरूप विश्लेषण का प्रायः अभाव है।

जी०पी० मललसेकर महोदय कृत "डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स" (196०) तथा चन्द्रिका सिंह उपासक कृत "डिक्शनरी ऑव अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स" (1975) जैसे कोशों का विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। उक्त ग्रन्थों के शब्दकोश होने के कारण संग्रहणीयता की दृष्टि से ही अधिक महत्त्व है। फिर भी, इनमें अपने विषय का विस्तृत विवेचन है, परन्तु कोश होने के कारण इनकी अपनी ऐतिहासिक दृष्टि से सीमाएँ भी हैं।

पिछले दशक में बौद्ध धर्म-संघ विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हुए है जिनमें डॉ० हिमांशु पी० राय, डॉ० उमा चक्रवर्ती तथा डॉ० सीताराम दुबे के ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। अपने ग्रन्थ "मोनास्ट्री एण्ड गिल्ड" में हिमांशु पी० राय ने जहां आर्थिक परिवेश के नवीन आयामों के उद्‌घाटन का प्रयास किया है वहीं अपेक्षित पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अध्ययन से नगरीकरण, शिल्प-कर्म और व्यापार-वाणिज्य आदि पर संघीय प्रभावों को विश्लेषित करने की चेष्टा की है। किन्तु ऐसा लगता है कि बौद्ध संघों का श्रेणी संगठनों से परस्पर तादात्म्य स्थापित करने के प्रयास में इनके लिए उन पर सामाजिक प्रभाव एवं विभिन्न वर्गों के योगदान की गवेषणा सम्भव नहीं रही। उमा चक्रवर्ती ने अवश्य "सोशल डाइमेन्शन ऑव अर्ली बुद्धिज़्म" में सांख्यिक परिगणन के साथ ही कम ही सही, किन्तु विभिन्न सामाजिक वर्गों के योगदान को भी व्याख्यायित करने का सार्थक प्रयास किया है। प्रतिपाद्य शोध की दृष्टि से डॉ० सीताराम दुबे महोदय का ग्रन्थ "बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास" विशेष उपादेय है। इसमें बौद्ध धर्म संघ के विकास की व्यापक गवेषणा की गई है। साथ ही चतुर्थ अध्याय "संघ की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि" में बौद्ध संघ के विकास में विविध जाति वर्गों के योगदान का भी संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन है, परन्तु विषय की व्यापकता को देखते हुए उसे भी सर्वाङ्गीण नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार इन सभी अध्ययनों की अपनी सीमाएँ हैं। बौद्ध धर्म-संघ के प्रारम्भिक विकास में विभिन्न जाति वर्गों के योगदान पर व्यापक और सर्वाङ्गीण अध्ययन की अपेक्षा है और यही शोध का प्रतिपाद्य विषय है। अतः इस दृष्टि से यह नवीन है और उपयोगी भी। इसमें सद्धर्म के अभ्युदय की पृष्ठभूमि के विवेचन के साथ ही संघ के सदस्यों के वर्गीकरण एवं सांख्यिक विश्लेषण को भी समाविष्ट किया गया है। विभिन्न सामाजिक वर्गों के भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं की सद्धर्म के विकास-विस्तार में व्यक्तिगत भूमिका को उचित स्थान देते हुए सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि, भौगोलिक विस्तार, नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन तथा परिनिर्वाणोत्तरकालीन परन्तु अशोक-पूर्व संघ की गवेषणा का प्रयत्न किया गया है।

बुद्ध से लेकर अशोक–पूर्व तक की अवधि का अपना अलग प्रारूप लक्षित होता है। इन दो सौ वर्षों की कालावधि को स्वरूप एवं विकास-विस्तार की दृष्टि से सद्धर्म का प्राथमिक चरण स्वीकार किया जा सकता है। अशोक के राज्यारोहण और सद्धर्म के प्रति उसकी अनुरक्ति और मुक्त हस्त से दान-दक्षिणा से पूर्व की मान्यताओं में व्यापक परिवर्तन दिखाई देता है और सद्धर्म में अनेक मानदण्ड विकसित होते हैं। इसलिए अशोक और उसके बाद की अवधि स्वतंत्र अध्ययन का विषय हो सकती है। बुद्ध से लेकर अशोक-पूर्व तक की यह अवधि बौद्ध धर्म-संघ की एक अलग इकाई के रूप में दिखाई देती है और यह समयावधि ही हमारे अध्ययन का विषय है। अतः बौद्ध धर्म-संघ के प्रारम्भिक विकास का आशय यहाँ बुद्ध से लेकर अशोक पूर्व तक के विकास से ही लिया जाना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन तथ्य संग्रह और सांख्यिक परिगणन पर आधारित है। इसके लिए मूलतः तो बुद्ध-वचनों के रूप में संग्रहीत प्रारम्भिक पालि साहित्य ही उपादेय है। बौद्ध परम्परा बुद्ध-वचनों के रूप में त्रिपिटक-विनय, सुत्त तथा अभिधम्म पिटक का उल्लेख करती है। प्रारम्भिक पालि साहित्य हेतु "पिटक" शब्द का उपयोग कौतूहलवर्द्धक लगता है। यद्यपि स्वयं पालि साहित्य में भी सद्धर्म सम्बन्धी साहित्य हेतु "पिटक" शब्द का अभाव है[8] और इन्हीं परिस्थितियों के चलते विद्वानों ने इसे क्रमिक विकास का परिणाम स्वीकार किया है और यह उचित भी लगता है। सम्भव है कि कालान्तर में

पालि साहित्य के पृथक् विभाजन हेतु इस प्रकार का शब्द प्रचलन में आया हो। पालि साहित्य में धर्मोपदेश हेतु "धम्म परियाय" तथा "धम्म विनय" जैसे शब्दों का विवरण मिलता है। सम्भवतः "धम्म विनय" का उपयोग आरम्भ में प्रायः भिक्षुओं के जीवन के नियमन-संयमन सम्बन्धी नियमों से रहा होगा और यह प्रथम संगीति के विवरण से उचित भी लगता है, जिसमें बुद्ध उपदेशों को "धर्म एवं विनय सम्बन्धी उपदेशों" के रूप में भी स्वीकृत किया गया है। यद्यपि त्रिपिटक के विकास-क्रम की कोई निश्चित अवधि का अनुमान करना तो सम्भव नहीं लगता, परन्तु कुछ पुरातात्त्विक साक्ष्यों - साँची एवं भरहुत से प्राप्त अभिलेखों में उल्लिखित "पेटकि" और "पंचनेकायिक" शब्दों, के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस अवधि के पूर्व ही बुद्ध-वचन न केवल त्रिपिटक के रूप में स्वीकृत हो चुके थे अपितु पालि सुत्तपिटक के पांच निकायों - दीघ, मज्झिम, अङ्गुत्तर, संयुत्त और खुद्दक, को अस्तित्व मिल चुका था। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि न तो यही कहा जा सकता है कि बुद्ध के सारे उपदेश पालि साहित्य में संग्रहीत कर लिए गए हों और न यही कि प्रारम्भिक पालि साहित्य में वर्णित सारे मन्तव्य बुद्ध-वचन हैं। सम्भव है समय के साथ जाने-अनजाने बुद्ध के अनेक मन्तव्य विस्मृत हो गए हों और अनेक नए मन्तव्य जिनका कि बुद्ध से कोई सम्बन्ध ही न हो, उनके स्थानापन्न हो गए हों।

चीनी, तिब्बती, आदि की अपेक्षा सिंहली थेरवादियों के त्रिपिटकों को ही प्रायः बुद्ध उपदेशों के प्राचीनतम संग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है। एकमात्र भारतीय भाषा और अपने पूर्ण स्वरूप में प्राप्त होने के कारण भी इसकी महत्ता स्वीकार करनी चाहिए। विभिन्न बौद्ध परम्पराओं और निकायों के त्रिपिटकों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप जहाँ विनयपिटक और सुत्तपिटक में अद्भुत साम्य है, वहीं उनसे अभिधम्मपिटक वर्णित सामग्री की व्यापक भिन्नता है। विषयवस्तु के विवेचन से भी वह उत्तरकालीन लगता है। अतः यहाँ प्रस्तुत अध्ययन में साधन-स्रोत के रूप में मूलतः पालि-विनयपिटक, सुत्त पिटक का उपयोग किया जाएगा तथा प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्गमय, प्रारम्भिक पालि साहित्य एवं बुद्ध वचनों से आशय भी इन्हीं से है। यहाँ अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी स्रोत-साहित्य की समीक्षा अपेक्षित है।

विनयपिटक

मुख्य रूप से यह दो भागों – सुत्त विभंग एवं खन्धक में विभाजित है। इसी प्रकार खन्धक भी दो उपखण्डों – महावग्ग एवं चुल्लवग्ग में विभक्त किया गया है। परन्तु विनयपिटक के अन्तिम भाग परिवार को स्पष्ट रूप से अपेक्षाकृत उत्तरकालीन परिशिष्ट के रूप में स्वीकार किया जाता है। सुत्त विभंग के अन्तर्गत भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए निर्दिष्ट वर्जनाएँ प्रातिमोक्ष के रूप में संकलित हैं। उल्लेखनीय है कि कुछ समानताओं के साथ भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए अनुदिष्ट प्रातिमोक्ष नियमों में परस्पर कुछ भिन्नताएँ भी हैं। खन्धक भाग में इन्हीं नियमों के अस्तित्व में आने और समय-समय पर हुए संशोधन-परिवर्द्धन का कथानकों के रूप में वर्णन है। ऐसे नियमों में चतुर्निश्रय, भिक्षु-भिक्षुणियों की दैनन्दिनी, आचार-व्यवहार, भैषज्य, संघ-प्रवेश तथा निष्कासन, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा, प्रातिमोक्ष, संघ के प्रकार एवं संघीय व्यवस्था, विनय-कर्म, विवाद-शमथ, दाण्डिक विधान, आदि का विशेष उल्लेख मिलता है। खन्धक में प्राप्त कथानकों से यत्किञ्चित समकालीन ऐतिहासिक, सामाजिक व्यवस्था का प्रारूप भी मिलता है, परन्तु उपलब्ध होने वाली सम्पूर्ण सामग्री बुद्धकालीन ही है, संशयजन्य है। यद्यपि इसे सर्वथा कल्पित और उत्तरकालीन भी नहीं माना जा सकता। अतः उनका सतर्कतापूर्वक अध्ययन कर विश्वसनीय और अध्ययनावधि की सामग्री का ही यथावश्यक प्रयोग किया जाएगा।[9]

सुत्तपिटक

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि सुत्तपिटक पञ्च निकायों – दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अङ्गुत्तर तथा खुद्दक, में विभाजित है। उपर्युक्त निकायों में से प्रथम चार निकायों में वर्णनात्मक शैली की दृष्टि से अत्यन्त साम्यता है।[10] इनमें वर्णित प्रत्येक सुत्त के आरम्भ में सर्वप्रथम स्थान, उपदेश का अवसर, श्रोता तथा वक्ता की जानकारी प्राप्त होती है, तदुपरान्त विषय का विवरण मिलता है। उपदेश-समापन पर श्रोता प्रायः त्रिशरण-गमन द्वारा उपासक अथवा दीक्षा ग्रहण कर भिक्षु बन जाता है। यद्यपि इसके

पर्याप्त अपवाद भी ज्ञात होते हैं और अनेकशः मात्र प्रशंसा-भाव ही ज्ञात होता है। कतिपय ऐसे सुत्त भी मिलते हैं जिनमें ने केवल बुद्ध के प्रति अपितु उनके उपदेशों के प्रति भी उपेक्षापूर्ण व्यवहार वर्णित है।[11] संवादात्मक शैली में वर्णित इन सुत्तों में पुनरावृत्ति एवं संख्यात्मक अतिशयोक्ति भी लक्षित होती है, जो सम्भवतः श्रुत परम्परा के होने के कारण स्वाभाविक भी लगती है। इन निकायों की उपर्युक्त सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त इनकी अपनी अलग-अलग विशिष्टताएँ हैं, जो कि इन्हें परस्पर भिन्न करती हैं।

दीघ निकाय अपने नामानुसार दीर्घ अर्थात् लम्बे (बड़े) सुत्तों का संकलन है, जो तीन भागों – सीलवग्ग, महावग्ग और पथिकवग्ग में विभक्त है। मज्झिम निकाय (मध्यम) पन्द्रह उपविभागों में मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इन दोनों निकायों में तत्कालीन सामाजिक परिवेश का चित्रण उपलब्ध होता है तथा बुद्धकालीन धार्मिक वातावरण एवं भौगोलिक परिवेश की भी सूचना प्राप्त होती है।[12]

अपने नामानुरूप संयुत्त (संयुक्त) निकाय में छोटे-बड़े सभी प्रकार के उपदेशों का समायोजन है। परन्तु इसमें छोटे सुत्तों की संख्या अधिक है। प्रत्येक सुत्त गद्यात्मक शैली में वर्णित है। यत्र-तत्र अनेक अंश पद्यात्मक भी दिखाई देते हैं, साथ ही इसमें लोकाख्यानों का भी समावेश है जिसके अन्तर्गत ग्राम्य जीवन, यक्ष-यक्षिणी तथा गन्धर्वो आदि का भी विवरण है।

अङ्गुत्तर निकाय अपनी अपनी संख्यात्मक विशेषता के लिए जाना जाता है। यह ग्यारह निपातों में विभाजित है। वर्णित स्वरूप में तो पूर्वकृत निकायों के समान है, परन्तु शैली की दृष्टि से भिन्न है।

खुद्दक निकाय को अन्तिम निकाय के रूप में परिगणित किया जाता है। इसकी प्राचीनता के सन्दर्भ में विवाद है। स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी परम्परा में चार निकायों की प्रधानता[13] होने से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है, साथ ही पालि खुद्दक निकाय का भी निश्चित स्वरूप प्राप्त नहीं होने से इसे उत्तरकालीन स्वीकार किया जाता है। परन्तु 15 ग्रन्थों में विभक्त खुद्दक निकाय को समग्र रूप से परवर्ती मानना उचित नहीं लगता। हाँ, अन्य निकायों की तुलना में यह बाद में संग्रहीत हुआ, समय-समय पर इसमें

अनेक संशोधन-परिवर्द्धन भी हुए, लेकिन संशोधन-परिवर्द्धन को दृष्टि में रखते हुए भी इसे तृतीय-द्वितीय शती ई० पू० के बाद नहीं रखा जा सकता। भरहुत एवं साँची स्तूपों के ई०पू० दूसरी सदी से सम्बद्ध अभिलेखों में "पञ्चनेकायिक" के उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है। अतः इसकी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीनता एवं विश्वसनीयता दोनों दृष्टियों से खुद्दक निकाय के मात्र पाँच ग्रन्थों – खुद्दक पाठ, धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान और इतिवुत्तक का अपना विशिष्ट स्थान है। इसके बाद भी प्रतिपाद्य विषय, काल और उपयोगिता की दृष्टि से, हमारे अध्ययन के लिए धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान, थेर-थेरी गाथा यथेष्ट लगते हैं और इसलिए हमने खुद्दक निकाय के इन्हीं ग्रन्थों का अपने अध्ययन में उपयोग किया है। अतः इनका भी यहाँ संक्षिप्त परिचयोल्लेख उपयोगी होगा –

धम्मपद – यह 26 छोटे-छोटे भागों में विभाजित हैं। इसमें संकलित अधिकांश गाथाएँ अन्य त्रिपिटकों में भी उपलब्ध होती है। इसमें प्रायः बौद्ध सूक्तियों, भिक्षु जीवन और संघ सम्बन्धी चर्चा मिलती है।

सुत्तनिपात – सुत्तनिपात में अनेक महत्त्वपूर्ण सुत्तों का नियोजन है, जिनमें महावग्ग और अट्ठकवग्ग का विवरण अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक है। यह सद्धर्म की प्रारम्भिक अवस्था को रेखांकित करता है। इससे विरक्तिमार्गी, संसारत्यागी बौद्ध धर्म पर प्रकाश पड़ने के साथ ही अल्प ही सही भौतिकवादी सामाजिक संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है।

उदान – यह आठ वर्गों में विभाजित गद्य और गाथा भाग में संयोजित है। इसका गाथा भाग ही अधिक विश्वसनीय माना जाता है। इसमें बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक प्रसंगों का उल्लेख मिलता है।

थेर-थेरी गाथा – इसमें भिक्षु-भिक्षुणियों के आन्तरिक विचारों को गाथा के रूप में संग्रहीत किया गया है तथा प्रत्येक गाथा के रचयिता को किसी न किसी रूप में बुद्ध से सम्बद्ध करने का असफल प्रयास किया गया है। यद्यपि इनमें से कुछ को तो बुद्धकालीन या फिर बुद्ध से सम्बद्ध किया जा सकता है, किन्तु कतिपय तो स्पष्टतः मौर्यकालीन हैं।

सुत्तपिटक एवं विनयपिटक के सामान्य अध्ययन से सुस्पष्ट है कि ये

किसी काल-विशेष के परिणाम न होकर क्रमिक विकास के सुफल थे। यद्यपि इनका निश्चित काल-निर्धारण तो सम्भव नहीं लगता, परन्तु इनका बहुसंख्य भाग प्रथम संगीति से लेकर अशोक पूर्व तक के मध्य रखा जा सकता है। अतः इनके सामान्य अध्ययन से समकालीन श्रमण-परिव्राजकों, एवं अन्य तैर्थिकों की जीवन-शैली, वैचारिक-सैद्धान्तिक वृद्धि-समृद्धि, धार्मिक-सामाजिक जीवन, समाज का बौद्ध भिक्षुओं के प्रति दृष्टिकोण आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवेश, ग्राम्य और नागर जीवन तथा सामाजिक वर्गों की स्थिति आदि पर प्रकाश पड़ता है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि प्रस्तावित अध्ययन मूलतः प्रारम्भिक पालि साहित्य पर ही आधारित है। पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन से यह विदित होता है कि इसमें अनेक स्थलों पर महिमामण्डित अतिशयोक्तिपूर्ण सूचनाएँ एवं सांख्यिक पुनरावृत्ति है, जिनका निश्चित रूप से हमारे अध्ययन की दृष्टि से सम्बन्ध तो नहीं है, किन्तु हमने पालि साहित्य की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता के अध्ययन के साथ ही उक्त तथ्यों को भी समाहित कर आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री को पृथक् रूप से संकलित करने की चेष्टा की है। प्रतिपाद्य विषय के प्रस्तुतीकरण में पूर्वाग्रह को त्याग ऐतिहासिक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया गया है तथा ऐतिहासिक विकास-क्रम को भी देखने का प्रयत्न किया जाएगा। हमने अपने अध्ययन में प्रथमतः मूल पालि साहित्य को ही प्रमुखता दी है, परन्तु उनके हिन्दी अनुवादों का भी यथावश्यक उपयोग किया है।

पालि–सन्दर्भों को मूल से ग्रहण करने के प्रयास में पालि टेक्स्ट्स सोसाइटी के संस्करणों के अवलोकन का प्रयास किया गया है। किन्तु नालन्दा के नागरी संस्करणों की प्रामाणिकता को देखते हुए उनका उपयोग मुख्य रूप से किया है। प्रस्तुत अध्ययन में आलोचनात्मक दृष्टिकोण के लिए भिन्न-भिन्न प्रामाणिक अनुवादों और उनकी पाद टिप्पणियों का यथेष्ट उपयोग किया गया है।

परवर्ती उत्तरकालीन बुद्धघोष आदि के भाष्यों को प्रायः छोड़ दिया गया है, लेकिन इनसे सम्बद्ध पालि साहित्य के अनुवादों एवं आधुनिक प्रामाणिक

अध्ययनों में उल्लिखित अपेक्षित प्रसंगों, जो सामान्यतः सहज विश्वसनीय प्रतीत हुए हैं, को अध्ययन का अङ्ग बनाया गया है। यद्यपि प्रस्तावित अध्ययन के मूल रूप से पालि साहित्य पर निर्भर होने के बाद भी इसकी सम्यक् विश्लेषणा के लिए अपेक्षित ब्राह्मण एवं प्रारम्भिक जैन साहित्य का भी ससम्मान उपयोग किया गया है। मत-पुष्टि अथवा विचार-संयोजन के लिए अपेक्षित उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों - भरहुत, साँची आदि के उत्कीर्ण चित्रों और आभिलेखिक सामग्री को भी उचित स्थान दिया गया है।

संदर्भ-सूची

1. सद्धर्म की उत्पत्ति की सामान्य अवधारणा के लिए देखें - पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 16 और आगे तथा स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज़्म, पृष्ठ 310 और आगे; बैशम, ए० एल०, ए वैनिश्ड इण्डियन रिलीजन, पृष्ठ 4 और आगे तथा स्ट० हि० बु०, पृष्ठ 14 और आगे; वार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 28 और आगे; त्रिवेदी,, कृष्ण कुमार, प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ 5 और आगे; दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 2 और आगे।
2. अं०नि०, 8/1/8/12 (उत्तर विपत्ति सुत्त)।
3. सु०नि०, "खग्ग विषाण सुत्त।"
4. धम्मपद, गाथा 194, बुद्धवग्ग; तुलनीय, गोखले, बी०जी०, इ०हि०क्वा०, जि० 32, पृष्ठ 35.
5. संघ-भेद एवं विभिन्न सम्प्रदायों के विकास के लिए देखें - थामस, एडवर्ड, ई०जे०, दी हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्ट थॉट, पृष्ठ 288 और आगे; दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सैक्ट्स इन इण्डिया तथा दी एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ 378 और आगे; बापट, पी०वी० (सं०), बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 87 और आगे; पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 173 और आगे; वार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 288.
6. रीस डेविड्स, टी०डबल्यू०, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ 68-69; आप्टे, वैदिक एज, पृष्ठ 487-89.
7. अ०नि०, 8/1/8/12 (उत्तर विपत्ति सुत्त)।
8. थामस, एडवर्ड जे०, दी हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्ट थॉट, पृष्ठ 266.

9. विनयपिटक के प्रतिपाद्य विषय एवं महत्त्व के लिए देखें – उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 308-10; थामस, एडवर्ड जे०, दि हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्ट थॉट, पृष्ठ 266-68.
10. शैली आदि के विवेचन के लिए देखें – थॉमस, एडवर्ड जे०, दि हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्ट थॉट, पृष्ठ 268- 71; दत्त, नलिनाक्ष, दी एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी,, पृष्ठ 398-400; उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 121-96; विन्टरनिट्ज़, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ 34 और आगे।
11. दी०नि०, "अम्बट्ठ सुत्त।"
12. उपाध्याय, भरतसिंह पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 125-26.
13. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज़्म, पृष्ठ 7.

द्वितीय अध्याय

बौद्ध धर्म एवं उसके अभ्युदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ई. पू. छठी शताब्दी का समय न केवल भारत के लिए अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए एक युगान्तरकारी पुनर्जागरण का काल था। इस युग विशेष में धर्म-सुधार के साथ-साथ विश्व के अनेक भागों में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के व्यापक दौर का सूत्रपात हुआ। संसार के अनेक स्थानों पर विभिन्न वादों के पोषक एवं संस्थापक युग-प्रवर्तकों का जन्म हुआ, जिनमें विविध दृष्टियों से महात्मा बुद्ध एवं उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का विशिष्ट स्थान लक्षित होता है। अतः इस काल-विशेष में प्रादुर्भूत एवं प्रभाव-प्राप्त बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति एवं उसके विकास के विभिन्न आयामों के प्रति जिज्ञासा सहज स्वाभाविक है।

प्रायः स्वीकार्य है कि ई. पू. छठी शताब्दी में प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा अपने में बढ़ रही जटिलताओं एवं रूढ़ियों के कारण अपना आकर्षण खो रही थी जबकि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा के प्रति उसकी कतिपय सरलताओं, जाति-वर्गविहीन मान्यताओं के कारण लोगों का आग्रह बढ़ रहा था। इन दोनों परम्पराओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा-भाव दिखाई देता है। इस संक्रमणशील परिवर्तन के युग में प्रायः सभी ऐतिहासिक वृत्तियां न्यूनाधिक प्रभावित हो रही लगती हैं। परन्तु प्रभाव की प्रक्रिया एकपक्षीय नहीं हुआ करती, अतः स्वयं बौद्ध धर्म ने समाज को कितना प्रभावित किया और साथ ही स्वयं वह तद्युगीन वृत्तियों से कितना प्रभावित हुआ ? जैसे तत्त्व विवेचना के विषय हो सकते हैं और इस प्रकार की विवेचना के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण आवश्यक लगता है। अतः यहाँ बुद्धकालीन भौगोलिक भेदजनित वैशिष्ट्य, राजनीतिक क्षितिज, सामाजिक-आर्थिक स्थिति, धार्मिक-दार्शनिक सोच आदि का विश्लेषण प्रासंगिक होगा।

भौगोलिक

प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्गमय के सामान्य अध्ययन से बुद्धकालीन भारत की समुचित जानकारी उपलब्ध होती है। बुद्ध-युग में भारत को जम्बूद्वीप के नाम से अभिहित किया जाता था। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में तो भारत की भौगोलिक परिभाषा भी उपलब्ध होती है।[1] पिटक साहित्य में प्राचीन भारत के तीन विभाजन स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं जिनमें षोडष महाजनपद का विभाजन अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है।[2]

सन्दर्भवश उल्लेखनीय है कि भौगोलिक दृष्टि से तत्कालीन उत्तर भारत दो भागों पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत में विभाजित था। यद्यपि पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत का स्पष्ट रूप से विभाजन कर पाना व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है परन्तु सारस्वत प्रदेश, सारस्वतेतर, विशेषकर मज्झिमा-जनपद के रूप में इस विभाजक स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। इन क्षेत्रों पर वहाँ की कतिपय विशेषताओं, जालवायिक वैशिष्ट्य, सांस्कृतिक प्रतिमानों, का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पश्चिमोत्तर भारत (सारस्वत प्रदेश) अत्यन्त उपजाऊ क्षेत्र था जिसके परिणामस्वरूप वह क्षेत्र अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस क्षेत्र की जलवायु अपेक्षाकृत शर्द थी, यही कारण है कि यहाँ के निवासियों की भोजन के प्रति आसक्ति एवं पाचन क्रिया अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक विकसित थी। अतः ऐसी स्थिति में विद्वानों का यह सामान्य अभिमत कि ई. पू. छठी शताब्दी में प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा की प्रधानता थी, स्वाभाविक लगता है।

इसके सर्वथा विपरीत पूर्वोत्तर भारत का भौगोलिक वातावरण पश्चिमोत्तर भारत की तुलना में गर्म था तथा जलवायु के प्रायः अनुकूल नहीं रहने का भी अनुमान किया जाता है। इस क्षेत्र की उपजाऊ शक्ति सीमित थी, कृषि-योग्य भूमि की उपलब्धता अत्यल्प थी। बौद्ध साहित्य में अनेक वनों का वर्णन भी इस तथ्य का समर्थन करता है।[3] समग्र रूप में यह स्वीकार करना चाहिए कि पूर्वोत्तर भारत विपन्नावस्था का सामना कर रहा था। यद्यपि इस क्षेत्र में अनेक श्रेष्ठि समृद्ध जन मिलते हैं, परन्तु जन-सामान्य तंगहाल एवं निर्धन ही दिखाई देता है। प्रकृति पर निर्भरता तथा जालवायिक

वैशिष्ट्य के कारण यह स्वाभाविक भी लगता है। कतिपय विद्वानों ने गंगा-यमुना की घाटी की तत्कालीन प्राकृतिक अवस्थिति को उनके नियतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम निरूपित करने की चेष्टा की है[4] और कुछ सीमा तक यह उपयुक्त भी लगता है।

यदि हम वर्तमान स्थिति में पूर्वोत्तर भारत पर दृष्टिपात करें तो यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि क्षेत्र आज भी विकसित अवस्था में नहीं हैं और न ही वहाँ के निवासियों को समग्र मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध हैं, तब आज से लगभग छब्बीस सौ वर्ष पूर्व इस क्षेत्र की स्थिति का अनुमान सहज ही बोधगम्य है।

उपर्युक्त क्षेत्र में प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा विद्यमान अवश्य थी; किन्तु प्रभाव-प्राप्त नहीं थी इसीलिए जब प्रतिक्रियास्वरूप निवृत्तिमार्गी परम्परा का उद्‌भव हुआ तो लोगों ने व्यापक रूप से इसका स्वागत किया और इसमें आजीविक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठा-प्राप्त आचार्य मक्खलिगोशाल के नियतिवादी चिन्तन की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी।[5] चूंकि आजीविक सम्प्रदाय के स्वर श्रमण परम्परा के समर्थन में एवं प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा में व्याप्त हो रहे अनुचित कर्मकाण्डों के विरोध में थे[6] अतः इस प्रकार की अवधारणा को स्वीकार किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र-विशेष में लोगों के पास कृषियोग्य भूमि का अभाव था, व्यावसायिक कार्य परम्परागत थे एवं इनकी भी अपनी सीमाएँ थीं। लोगों को आजीविका सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही थीं – ऐसी स्थिति में जाति-वर्गविहीन निवृत्तिमार्गी परम्परा का उद्‌भव हुआ जिसके प्रति लोग आकर्षित हुए एवं बिना किसी उत्तरदायित्व के संघ के सदस्य बन भिक्षावृत्ति कर जीविकोपार्जन करने लगे।

परन्तु मात्र यह कहना कि भौगोलिक कारकों के कारण श्रमण परम्परा अथवा निवृत्तिमार्गी धारा का उदय हुआ, सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता। वैसे भी इस प्रकार व्यापक परिवर्तन अथवा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के लिए कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं हुआ करता। इस प्रकार का मन्तव्य मात्र अनुमान पर आधारित है जिसमें तत्कालीन पारिस्थितिकीय ज्ञान से सहायता मिलती है। यद्यपि इस प्रकार के मन्तव्य की पुष्टि के लिए और प्रबल प्रमाणों की अपेक्षा है।

राजनीतिक

राजनीतिक दृष्टि से यह युग गणतंत्र, राजतंत्र एवं कहीं-कहीं दोनों के समन्वित रूप में उभरकर सामने आता है।[7] संख्या की दृष्टि से गणतंत्रों का बाहुल्य एवं शक्ति-सामर्थ्य की दृष्टि से राजतंत्रों का प्राधान्य लक्षित होता है, जिनमें कोशल एवं मगध का वर्चरव दिखाई देता है। अनेक गणतंत्र शाक्य, कोलिय आदि इन राजतंत्रों के साम्राज्यवादी नीति के शिकार बन चुके थे और वज्जि आदि बनने की प्रक्रिया में थे।[8] स्वयं साम्राज्य-विस्तार को लेकर कोसलराज प्रसेनजित् एवं मगधराज बिम्बिसार के समय प्रतिस्पर्धा-भाव मिलता है तथा उनके अनुवंशियों के रक्त में यह प्रतिद्वन्द्विता अधिक बढ़ जाती है। अवन्ति एवं वत्स भी इनकी साम्राज्यवादी नीति की चपेट में आ जाते हैं, अन्ततः मगध साम्राज्य सर्वाधिक प्रभावशाली बनता है।

गणतंत्रों के दुर्बल होने और राजतंत्रों के शक्ति और सामर्थ्य के विस्तार की प्रक्रिया में[9] राजनीतिक अशान्ति, जान-माल के प्रति असुरक्षा का भाव सहज अनुमन्य है। इससे, अधिक प्रबुद्ध-चिन्तनशील "व्यक्तियों" में सांसारिक विरक्ति होना असम्भव नहीं है[10] अतः इस प्रकार के राजनीतिक उथल-पुथल को निवृत्तिमार्ग में सहायक माना जा सकता है।

पूर्वोत्तर भारत में निवृत्ति के प्राधान्य के पीछे इस प्रकार के राजनीतिक संघर्ष एवं संक्रमण की भी भूमिका रही। वैसे भी संघर्षमय राजनीतिक वातावरण का पूर्वोत्तर भारत में आधिक्य था। कतिपय विद्वानों ने तो स्वयं सिद्धार्थ गौतम के संसार-त्याग की पृष्ठभूमि में शाक्यों और कोलियों में परस्पर प्रतिस्पर्धा एवं कलहमय वातावरण को ही अधिक महत्त्व दिया है।[11] सिद्धार्थ गौतम एवं वर्धमान के विचारों पर गणतंत्रीय शासन विधा की अमिट छाप दिखाई देती है और उनके स्वरूप एवं संघीय विधान में भी गणतंत्रीय शासन पद्धति की छाप मिलती है। यद्यपि यह विवाद का विषय है कि गणतंत्रीय नियम विधानों की नकल में संघीय विधि-विधान बने अथवा स्वयं गणतंत्रीय विधान बौद्ध संघ के नियमों से प्रभावित थे।[12] परन्तु सम्बद्ध विषय की समग्र विवेचना से बौद्ध संघ के नियमों को गणतंत्रीय नियमों से प्रभावित मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

सामाजिक

सामाजिक दृष्टि से यह अनेक नूतन प्रयोगों के युग के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। अनेक प्रभाव-प्राप्त मनीषियों एवं आध्यात्मिक प्रवक्ताओं के चिन्तन-मनन के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात होता है, चिन्तन की अभिनव धाराओं का प्रस्फुटन होता है, संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष की ओर लोगों की रूझान बढ़ती है एवं सामाजिक क्षेत्र में अनेक अभिनव प्रतिमानों की स्थापना होती है।[13]

समाजपरक व्याख्या की दृष्टि से भी तत्कालीन उत्तर भारत पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भारत में विभाजित था। नगरीकरण के फलस्वरूप ग्राम्य-अरण्यक वैदिक संस्कृति की अनेक मान्यताओं का खण्डन हुआ तथा अनेक नूतन मान्यताओं का सृजन हुआ। पश्चिमोत्तर भारत में वैदिक संस्कृति का प्राबल्य था किन्तु पूर्वोत्तर भारत में श्रमण परिव्राजक परम्परा का प्राधान्य लक्षित होता है। उल्लेखनीय है कि प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा का पूर्वोत्तर भारत की ओर विस्तार हो रहा था, हिंसात्मक यज्ञ-यागादि का महत्व दिनानुदिन बढ़ रहा था। परम्परागत पूर्व प्रचलित सामाजिक व्यवस्था का चतुर्धा विभाजन तो था; परन्तु जैन-बौद्ध साक्ष्यों से सुस्पष्ट होता है कि पूर्व प्रचलित जातीय सामाजिक मान्यता श्रमण-प्रधान परम्परा में सैद्धान्तिक रूप से जन्मना आधारित न होकर कर्मणा आधारित होने लगी थी, यद्यपि व्यवहारतः इसके अपवाद भी हैं। वर्ण-सम्मत परम्परागत कार्य-व्यवसायों के प्रति कोई बन्धन नहीं रह गया था। अर्थात् किसी भी वर्ण का व्यक्ति किसी भी वर्ण का कार्य कर सकता था। इस युग में ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म के अतिरिक्त कृषि एवं अन्य ब्राह्मणेतर कार्यों में संलग्न दिखाई देते हैं।[14] क्षत्रिय प्रशासकीय कार्यों के साथ ही अध्ययन-अध्यापन में भी सहभागिता कर रहे होते हैं। श्रेष्ठि-वैश्य वर्ग व्यवसाय-वाणिज्य के अतिरिक्त कृषक[15] एवं राज्य कर्मचारी[16] के रूप में भी दृष्टिगत होते हैं। सामाजिक चेतना एवं सुधारों के परिणामस्वरूप शूद्रों की स्थिति में किंचित् सुधार हुआ।

उपर्युक्त युग-विशेष के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों की यह अवधारणा कि इस काल के ब्राह्मण- विरोधी आन्दोलन के नेता क्षत्रिय थे[17] सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि समकालीन परिवेश में इस प्रकार की अवधारणा अनुपलब्ध है। यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि क्षत्रियों ने

ब्राह्मण- परम्परा या ब्राह्मण-धर्म का कभी विरोध नहीं किया, अपितु उसने क्रमागत रूढ़ियों एवं जटिलताओं का तथा कर्मकाण्ड में रत स्वार्थपरक पौरोहित्य वर्ग का विरोध अवश्य किया।

निश्चय ही इस प्रकार के परिवर्तनों ने सामाजिक क्षेत्र में संकट एवं संक्रमण को जन्म दिया और इस प्रकार की स्थिति निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा के समर्थन में उपयोगी बनी होगी।

आर्थिक

ई. पू. छठी शताब्दी में हुए परिवर्तनों से आर्थिक क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा और इसका सर्वाधिक प्रभाव धार्मिक क्षेत्र पर पड़ा। यद्यपि कुछ विद्वानों की दृष्टि में इस समय की ग्राम्य-आरण्यक वैदिक सभ्यता अब नगरों में सीमित हो गई थी[18] यथावत स्वीकार्य नहीं लगती। हां, यह अवश्य है कि इस युग के बदलते आर्थिक आयाम एवं बहुविध वृद्धि-समृद्धि से नागर सभ्यता का प्रभाव बढ़ रहा था और ग्राम्य-अरण्य सभ्यता नगरोन्मुख थी। जल-थल-पथों की व्यापारिक समुदाय के उपयोग ने नगरों को धन-धान्य से परिपूर्ण कर समृद्धि प्रदान की।[19] इस युग में भारतीय संस्कृति द्रव्य युग में परिवर्तित हो रही थी।[20] विभिन्न कार्य-व्यवसाय, श्रेणी-समुदायों में संगठित थे जिनका स्वरूप उनके नियमन-संयमन और सुरक्षा में निहित था, और विशेषकर बौद्ध धर्म संघ के संवर्द्धन में भी इसका सहाय्य प्रतीत होता है। श्रेणी-प्रमुख श्रेष्ठि के रूप में अभिहित हो राजसभा में प्रतिष्ठित होते थे[21] तथा इस काल में श्रेष्ठियों-श्रेणियों का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि ये राज-शासन को भी प्रभावित करते थे। कौशाम्बी का घोषक, अंग का मेण्डक तथा कोशल का अनाथपिण्डक आदि इस युग के महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठियों में थे जिनका प्रारम्भिक पालि परम्परा के अनुसार उत्तर भारत की आर्थिक समृद्धि में विशिष्ट योगदान था। अतः यह कथन उचित प्रतीत होता है कि यह श्रमणों, परिव्राजकों का ही नहीं, अपितु श्रेष्ठियों एवं श्रेणियों का युग भी था।[22]

यद्यपि कुछ विद्वानों द्वारा व्यक्त की गई इस अवधारणा को कि सोलहवीं शताब्दी ई. के यूरोपीय धार्मिक सुधारों में जिस प्रकार पूंजीगत प्रभाव के कारण ''प्रोटेस्टेण्ट'' सम्प्रदाय का उद्‌भव हुआ[23] ठीक उसी प्रकार

भारत में जैन एवं बौद्ध धर्म के उद्‌भव में वणिक श्रेष्ठि वर्ग का योगदान था, जो सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि ये दोनों धर्म संसार-त्यागी, निवृत्तिमार्गी थे और इनका धन-संग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं था, वरन् इस प्रकार की वृत्ति इनके लिए वर्जनीय पातक के रूप में निर्दिष्ट थी।

प्रायः स्वीकृत तथ्य यह है कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार एवं विकास में राज्याश्रय एवं अर्थ की विशिष्ट महत्ता होती है। बौद्ध धर्म भी इससे विलग नहीं था। श्रेणिक बिम्बिसार से लेकर सम्राट अशोक तक का प्रश्रय तथा अनाथपिण्डक, मेण्डक, विशाखामृगार माता जैसे अर्थ-प्रवण श्रेष्ठि उपासकों का साहाय्य बौद्ध धर्म के विकास में महत्वपूर्ण परिलक्षित होता है।

धार्मिक-दार्शनिक

धार्मिक-दार्शनिक दृष्टि से यह युग प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा की प्रतिक्रिया का काल था। यद्यपि प्रतिक्रिया की दृष्टि से उत्तर भारत को पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पश्चिमोत्तर भारत में यह जहाँ वैदिक धर्म में सुधार की दृष्टि से भक्ति-मार्ग के रूप में निष्पन्न दिखाई देती है वहीं पूर्वोत्तर भारत में यह अपेक्षाकृत निवृत्तिमार्गी परम्परा के रूप में प्रबल होती है। अनेक धर्म-पाषण्डों का प्राधान्य होता है, जिनकी बौद्ध एवं जैन साहित्य में लम्बी सूची मिलती है।[24] यद्यपि प्रधानता की दृष्टि से मक्खलिगोशाल, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त तथा अजित केशकम्बलिन आदि का महत्व लगता है और इनमें भी नियतिवादी आजीविक धर्म, अपरिग्रही जैन धर्म एवं दर्शन की दृष्टि अनात्मवादी एवं व्यवहार की दृष्टि से मध्यममार्गी बौद्ध धर्म का वर्चस्व दिखाई देता है। इन विविध धर्म-सम्प्रदायों में भी इस युग के संघर्षमय वातावरण का प्रभाव मिलता है। धार्मिक वाद-विवाद को प्रोत्साहन प्राप्त होता है और इस वाद-विवाद में कभी-कभी परस्पर एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह एवं विद्वेषपूर्ण आलोचना एवं प्रत्यालोचना का व्यवहार होता है।[25]

पालि साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि इस युग में प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना पृथक् सिद्धान्त एवं गणाचार्य होता था तथा इन गणाचार्यों की भी इस युग में ख्याति थी एवं ये श्रद्धास्पद थे। **संजय बेलट्ठिपुत्त** (संजय वेष्ठिपुत्र) की सूत्र कृताङ्ग में नेत्रहीन व्यक्ति के रूप

में निन्दा की गई है।[26] इन्हें सन्देहवादी माना जाता है तथा ये अपने अज्ञानवाद के सिद्धान्त के लिए प्रतिष्ठित थे। इनके विचारों की अभिव्यक्ति लोक-परलोक से परे थी तथा ये मानव-जीवन के कर्म, मुक्ति आदि के सन्दर्भ में मत व्यक्त करना अनुचित मानते थे। इस सिद्धान्त का परोक्षतः बौद्ध अव्याकृत-संवलित, मध्यम प्रतिपदा तथा जैन अनेकान्तवाद से सामीप्य लगता है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि सारिपुत्र एवं मौदगल्यायन इन्हीं के शिष्य थे।

पूरणकस्सप तथा **पकुध कच्चायन** दोनों ही अक्रियावादी थे; किन्तु दोनों की अक्रियावादी प्रकृति परस्पर भिन्न थी।[27] पूरणकस्सप के अनुसार संसार का कोई भी कर्म पाप-पुण्यप्रद नहीं है, जबकि पकुध कच्चायन के अनुसार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन, सात वस्तुएँ अनिर्मित, अचल और अबध्य हैं। अतः न कोई मरता है और न मारा जाता है।

अजित केशकम्बलिन उच्छेदवादी के रूप में विख्यात थे। इनका नाम केवल अजित था, किन्तु मानव-केश निर्मित कम्बल पहनने के कारण इन्हें केश-कम्बल की उपाधि मिली थी।[28] इनके सम्बन्ध में उपलब्ध जानकारी से इनके भौतिकवादी होने की पुष्टि होती है तथा इनके अनुसार शरीर चार भौतिक तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) द्वारा निर्मित है एवं मृत्योपरान्त यह पुनः उसी में विघटित हो जाता है।

इस प्रकार धार्मिक-दार्शनिक दृष्टि से विविध सम्प्रदायों, विचार-सिद्धान्तों में विभक्त यह काल लौकिक-पारलौकिक तथ्यों की कारण-कार्यपरक व्याख्या और उपलब्धियों की कर्मानुरूप विवक्षा करने वाले कर्म-प्रवण बौद्धिक चिन्तन के एक युग के रूप में उजागर होता है। इस प्रकार की विचारणा का सामाजिक, आर्थिक, आदि क्षेत्रों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। धार्मिक क्षितिज में जहाँ पुराणपंथी मान्यताओं का खण्डन होता है वहीं सामाजिक क्षेत्र में वर्ण-जाति सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपेक्षा की जाती है, कर्म की महत्ता पर बल दिया जाता है, आर्थिक क्षेत्र में विविध कार्य-व्यवसायों का जन्म तथा मौद्रिक व्यवस्था का अभ्युदय, वाणिज्य व्यवसाय का संवर्द्धन एवं नागर संस्कृति का प्राधान्य होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में गणतन्त्र अशक्त एवं राजतन्त्र सशक्त बनते दिखाई देते हैं, साम्राज्यवादी नीति के तहत अधिनायकवाद को बल मिलता है।

इस युग की ऐतिहासिक वृत्तियों में हो रहे परिवर्तनों के पीछे कतिपय विद्वानों ने इस युग के आर्थिक परिवर्तन को उत्तरदायी माना है तो अन्य ने सामाजिक-धार्मिक परिवर्तन को। इसी प्रकार कुछ ने सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए इस युग के धार्मिक सोच को कारक माना है तो अन्य ने इस युग के धार्मिक सोच को विविध कारकों में हो रहे परिवर्तनों की उपज। वस्तुतः निश्चित हेतु-भूत प्रत्यय के अभाव में किसी घटक-विशेष में हो रहे परिवर्तन-विशेष के लिए किसी एक तत्त्व को उत्तरदायी मानना उचित नहीं लगता है, वरन् इस काल में हो रहे समस्त परिवर्तन परिस्थितिजन्य थे और इनमें समस्त घटकों का युगपत योग था। हाँ, उनके परस्पर प्रभाव की मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है। इस दृष्टि से विचार करने पर निश्चय ही इस युग के धार्मिक सोच एवं चिन्तन-मनन का अपना महत्त्व और महात्मा बुद्ध तथा उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म और संगठित संघ का अपना विशिष्ट स्थान था।

बुद्ध की जीवनचर्य्या

सद्धर्म के प्रचार-प्रसार, संघ की स्थापना आदि दृष्टियों से निश्चय ही बुद्ध एक विभ्राट पुरूष के रूप में समुपस्थित होते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश बौद्ध परम्परा में किसी एक स्थल पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का समग्र क्रमबद्ध विवरण उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि परवर्ती बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध के समग्र जीवन के विवरण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, लेकिन वह अतिशयोक्तिपूर्ण व कहीं-कहीं किंवदन्तिपरक दिखाई देता है, जबकि प्रारम्भिक त्रिपिटक साहित्य में उनके जीवन का अव्यवस्थित विवरण मिलता है, जिनमें दीघनिकाय के "महापरिनिब्बान सुत्त" एवं महावग्ग का विवरण प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है और उनके प्रकाश में बुद्ध के जीवन की विशिष्ट घटनाओं को क्रमबद्ध किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सुत्तपिटक, विनयपिटक के अन्य अनेक प्रसंगों से भी क्रमविहीन ही सही, बुद्ध के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विवरण मिलता है। इनके समग्र अध्ययन से बुद्ध के जीवन एवं उनके व्यक्तित्व का आकलन सम्भव है। क्रमबद्धता की दृष्टि से जीवनी सम्बन्धी उपलब्ध विवरणों के आलोक में बुद्ध के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जन्म से लेकर राजगृह में सारिपुत्र एवं मौदगल्यायन की संघ-दीक्षा तदनन्तर विविध क्षेत्रों में उनके

सद्धर्म के प्रचार-प्रसार के सफल प्रयास जैसे दो चरणों में रखकर यहाँ अध्ययन करना सुविधाजनक होगा।

तथागत का जन्म कपिलवस्तु के शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ के रूप में हुआ था।[29] उनके 29 वर्ष की आयु में गृहत्याग की घटना के पीछे बौद्ध परम्परा चार विशेष दृश्यों – रोगी, वृद्ध, मृतक एवं संन्यासी, का उल्लेख करती है। इन दृश्यों को गौतम द्वारा संसार-त्याग की घटना का प्रेरक तो माना जा सकता है, परन्तु पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं, अपितु इसमें उनके चिन्तनपरक संवेदनशील व्यक्तित्व का कहीं अधिक महत्त्व प्रतीत होता है।

गृहत्याग पश्चात् गौतम ने दो ब्राह्मण आचार्यो आलार-कलाम एवं उद्दक रामपुत्त को अपना गुरू मानकर उनके सानिध्य में ध्यान की कुछ अवस्थाओं का अभ्यास किया। इसी प्रकार उरूवेला में तपस्या के दौरान पांच भिक्षु उनके मित्र बन गए[30] जिन्होंने यद्यपि बीच में ही पाखण्डी समझकर इनका साथ छोड़ दिया। किन्तु साधना एवं लगन से उन्हें गया में उरूवेला नदी के तट पर सम्बोधि की प्राप्ति होती है और वे सिद्धार्थ से सम्यक् सम्बुद्ध बन जाते हैं। लोगों में विवेक जागरण के लक्ष्य से स्वानुभूत ज्ञान के उपदेश का निर्णय लेते हैं और अपने पूर्व के सहयोगी पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को प्रथम उपदेश (धर्मचक्र प्रवर्तन) के योग्य मान सारनाथ (ऋषिपत्तन मृगदाव) प्रस्थान करते हैं। उनकी धर्मचक्र प्रवर्तन यात्रा के प्रसंग की दो घटनाओं का भी विशेष महत्त्व प्रतीत होता है।

ऋषिपत्तन यात्रा के प्रसंग में प्रथमतः बुद्ध की तपुस्स और भल्लिक नामक दो वणिक- व्यवसायियों से भेंट होती है। दोनों उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर खाद्यान्न भेंट करते हैं।[31] प्रारम्भिक पालि साहित्य में इन्हें द्विशरण-गमन द्वारा प्रथम उपासक बनने का श्रेय भी दिया जाता है।[32] पुनः कुछ और आगे बढ़ने पर बुद्ध को उपक आजीविक मिलता है, वह बुद्ध-दर्शन से प्रभावित तो होता है, उनसे उनके गुरू, धर्म-विनय आदि के सन्दर्भ में जिज्ञासा भी व्यक्त करता है; किन्तु बुद्ध के इस वक्तव्य पर, कि उन्होंने बिना किसी आचार्य के स्वयं के प्रयत्न से ही ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनकी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं और वे काशियों के नगर की ओर धर्मोपदेश करने जा रहे हैं, उदासीनता प्रदर्शित करते हुए चला जाता है।[33]

ऋषिपत्तन मृगदाव पहुँचने पर बुद्ध की पूर्व में उपेक्षा भाव प्रदर्शित

करने वाले उपरिलिखित पञ्चवर्गीय भिक्षुओं [34] से भेंट होती है। बुद्ध उनके समक्ष अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते हैं, जिसे पालि परम्परा में प्रायः धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से स्मरण किया जाता है। पाँचों भिक्षु प्रभावित होते हैं और उनके प्रति श्रद्धा-वन्दन करते हुए प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण करते हैं।

यहीं से बुद्ध ने सामान्य जन-मानस को भिक्षु के रूप में दीक्षित करने की प्रक्रिया का सूत्रपात किया एवं वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश एवं उसके मित्रों, स्वजनों को दीक्षित कर संघ की स्थापना की। यहीं यश के माता-पिता एवं पत्नी का त्रिशरण-गमन द्वारा गृही उपासिका-उपासक बनने का उल्लेख प्राप्त होता है।[35] इस प्रकार काशी से बौद्ध धर्म में गृहत्यागी भिक्षु एवं गृही उपासक-उपासिका बनने की श्रृंखला का न केवल प्रारम्भ होता है बल्कि बौद्ध धर्म संघ के सदस्यों की सांख्यिक वृद्धि होती है। यहीं वे अपने शिष्यों को "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय ...." का महत्त्व समझाते हुए पृथक्-पृथक् दिशाओं में जाकर उपदेश देने का निर्देश देते हैं [36] और स्वयं इसी लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ते हैं। प्रवंचित तीस भद्रवर्गीयों से उनकी भेंट होती है और वे सभी बुद्ध के उपदेश से प्रभावित हो संघ के सदस्य बन जाते हैं।[37]

मगध पहुँचने पर बुद्ध का, वहाँ के वर्चस्व प्राप्त जटिल काश्यप बन्धुओं से सम्पर्क होता है। इन काश्यप बन्धुओं – उरूवेल, नदी एवं गय काश्यप का अपने क्रमशः पाँच सौ, तीन सौ एवं दो सौ अग्निपूजक जटिल शिष्यों के साथ रहने का उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्रथमतः उरूवेल काश्यप से उन्हें सशक्त प्रतिरोध मिलता है, उनके उपदेशों का इन पर प्रभाव पड़ता नहीं दिखाई देता – अतः उन्हें प्रभावित करने के लिए बुद्ध को प्रतिहार्य प्रदर्शन तक का सहारा लेना पड़ता है।[38] अन्ततः उरूवेल काश्यप अपने शिष्यों के साथ बुद्ध का शिष्य बनता है और अपने भ्राता के अनुकरण में नदी एवं गय काश्यप भी अपनी शिष्य मण्डली के साथ संघ में दीक्षित हो जाते हैं। इस प्रकार संघ को सहस्राधिक सदस्यों की प्राप्ति होती है।

यह संख्या भले ही अतिरंजित हो लेकिन जटिलों का अत्यधिक संख्या में प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं लगता। निश्चय ही मगधवासियों के लिए यह घटना कौतूहलवर्द्धक सिद्ध हुई होगी। बिम्बिसार एवं मगधवासियों का इस घटना पर सहसा विश्वास न करने का भी विवरण मिलता है और

उन्हें तभी विश्वास होता है कि जब स्वयं जनसभा में उरूवेल काश्यप बुद्ध के प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं।[39] तदनन्तर राजगृह के संजय परिव्राजक के ब्राह्मण शिष्यद्वय सारिपुत्र एवं मौदगल्यायन ने अपने 250 शिष्यों सहित बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की और ये सारिपुत्र-मौदगल्यायन बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में बहुविध सहायक सिद्ध हुए।[40]

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि दूसरे चरण में बुद्ध के जीवन-वृत्त को उनके द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलों पर की गई चारिका एवं सम्पादित कृत्यों के आधार पर निरूपित करना उपयुक्त होगा।

मगध की उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त बुद्ध की चारिका एवं बुद्ध की बहुविध वृद्धि-समृद्धि तथा राज्याश्रय की दृष्टि से बौद्ध परम्परा मगध का विशिष्ट स्थल के रूप में उल्लेख करती है। मगधराज बिम्बिसार की सद्धर्म-श्रद्धा तो सर्वविदित है ही, किन्तु अजातशत्रु बुद्ध-विरोधी था और किञ्चित् बाद में वह स्वयं भी बुद्ध से प्रभावित होकर उनका उपासक बन गया था।[41] यहीं के पञ्चशाला नामक ब्राह्मण ग्राम के निवासियों ने उन्हें बिना भिक्षा दिए वापस कर दिया था। यही नहीं, उन्होंने सम्पन्न परिवार के व्यक्तियों एवं नवयुवकों को संघ-दीक्षित करने के लिए बुद्ध की आलोचना भी की।[42]

मगध की राजधानी राजगृह में ही अत्यन्त प्रतिष्ठित ब्राह्मण महाकस्सप ने संघ-दीक्षा ग्रहण की थी एवं यहीं बुद्ध से इनका चीवर परिवर्तन हुआ था[43] जिसे बौद्ध परम्परा उत्तराधिकारी चुनने के रूप में ग्रहण करती है। यहीं के कलन्दक निवाप में भगवान बुद्ध ने "सिगालोवाद सुत्त" जैसा महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया था। उन्होंने अपना दूसरा, तीसरा, चौथा, सत्रहवाँ एवं उन्नीसवाँ वर्षावास भी यहीं व्यतीत किया था। अतः पूर्व प्रतिष्ठित आजीविक, जटिल, निगण्ठ एवं ब्राह्मणों के विरोध, अजातशत्रु की प्रारम्भिक उपेक्षा के बावजूद बुद्ध को अपने सर्वातिशायी व्यक्तित्त्व से बौद्ध धर्म-संस्थापन में सहायता मिली और समाज के विभिन्न वर्गों ने संघ में प्रवेश लिया जिससे उन्हें बौद्ध धर्म सम्बन्धी अभिनव प्रतिमानों को प्रतिस्थापित करने में बहुशः सफलता मिली।

इसी प्रकार बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन और काशी में उनकी प्रारम्भिक चर्य्या का भी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी

पालि परम्परा बुद्ध के अनेक बार काशी आने एवं बौद्ध धर्म-संघ सम्बन्धी उनके कृत्यों के सम्पादन का स्मरण करती है। इस दृष्टि से ऋषिपत्तन मृगदाव महत्त्वपूर्ण तो था साथ ही कीटागिरि, मच्छिकाषण्ड जैसे स्थलों पर भी बुद्ध की चारिका का प्रसंग मिलता है। यहाँ उनके प्रभाव से सुप्पिया उपासिका द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा तो उल्लेखनीय है ही, मच्छिकाषण्ड के चित्रगृहपति को बौद्ध उपासक बनाना भी महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है,[44] जिसका बौद्ध उपासकों में विशिष्ट स्थान लक्षित होता है। यहीं उन्होंने अस्सजी एवं पुनब्बसु जैसे कुत्सित मानसिकता वाले भिक्षुओं को "कीटागिरि सुत्त" का उपदेश दिया।[45]

यद्यपि गौतम बुद्ध ने लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपना धर्म-प्रचार किया किन्तु उनके जीवन का अधिकतम भाग कोसल, विशेषकर श्रावस्ती में व्यतीत हुआ। यद्यपि यहाँ आरम्भ में अनेक धर्मावलम्बियों, आजीविको [46], जैन, ब्राह्मणों, आदि का वर्चस्व था, किन्तु राज्याश्रय एवं दान-सम्मान से इन्होंने शीघ्र ही अपना महत्त्व बना लिया और बौद्ध धर्म को सर्वाधिक प्रतिष्ठित कर लिया। यह इसलिए भी सम्भव लगता है कि शाक्य जनपद कोसल के अधीन था तथा कोसल-राज प्रसेनजित स्वयं बुद्ध के इस क्षेत्र-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण अतिशय श्रद्धालु थे[47] और इन सबका सुफल था कि यहाँ बौद्ध धर्म-संघ की बहुआयामी वृद्धि हुई। बौद्ध परम्परा में यहाँ बुद्ध के सर्वाधिक वर्षावास का उल्लेख मिलता है।[48]

यद्यपि श्रावस्ती में बुद्ध के प्रथम आगमन का श्रेय अनाथपिण्डक को दिया जाना चाहिए, उन्हीं के आमंत्रण पर बुद्ध श्रावस्ती आए थे। यहीं पर अनाथपिण्डक ने किंवदन्ती के रूप में प्रसिद्ध हो चुके जेतवन का दान बुद्ध को दिया था। उल्लेखनीय है कि जानुस्सोणि, तोदेय्य, चंकि, पोक्खरसाति तथा लोहिच्च जैसे अति सम्पन्न तथा ब्रह्मायु एवं वशिष्ठ जैसे अति विद्वान ब्राह्मणों ने यहीं बौद्ध धर्म ग्रहण किया था।[49]

बुद्धचय्र्या तथा संघ के सर्वतोभावेन विकास की दृष्टि से अङ्ग जनपद उल्लेखनीय है। यहाँ की राजधानी चम्पा थी तथा यह जनपद मगधराज के अधीन था।[50] अति प्रसिद्ध सोणदण्ड ब्राह्मण यहीं बुद्ध के प्रभाव में बौद्ध उपासक बना[51] एवं धर्म-संघ की बहुविध सहायता की। भद्दिया नामक

स्थान पर भी बुद्ध के जाने का विवरण मिलता है। यहीं के जातियवन में सुप्रसिद्ध श्रेष्ठि मेण्डक बौद्ध उपासक बना था और दूसरे दिन बुद्ध एवं भिक्षुओं की भोजनादि से परिचर्य्या करते हुए परिजनों को भी बौद्ध उपासक-उपासिका बनने की सफल प्रेरणा दी थी।[52] यहाँ के अङ्गुत्तराप में बुद्ध का बारह सौ पचास भिक्षुओं के साथ विहार करने का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि यह संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकती है, परन्तु यहाँ बुद्ध के निवास में संशय नहीं लगता है।

वज्जि जनपद की राजधानी वैशाली निगण्ठों के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित थी।[53] इसके उपरान्त भी बुद्ध को यहाँ पर्याप्त सफलता मिली। बौद्ध परम्परा बुद्ध के तीन बार वैशाली आगमन का उल्लेख करती है।[54] वैशाली की महावन कूटागारशाला में बुद्ध अनेक अवसरों पर निवास करते और उपदेश देते वर्णित हैं। यहीं पर निगण्ठ भिक्षु सच्चक को बुद्ध ने पाँच सौ लिच्छवियों की सभा में पराजित कर प्रसिद्धि प्राप्त की थी एवं सच्चक ने भी उनमें अपनी श्रद्धा व्यक्त कर भोजन हेतु आमंत्रित किया था।[55] वैशाली के निगण्ठ उपासक लिच्छवि-सेनापति सीह को बौद्ध उपासक बनाना, निगण्ठों के बढ़ते प्रभाव को रोकने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।[56] यहीं की सुप्रसिद्ध गणिका अम्बपाली बुद्ध की उपासिका बनी थी तथा भोजनोपरान्त उसने आम्रवन का दान दिया था।[57] वैशाली में बुद्ध की पाँचवीं वर्षावास का उल्लेख मिलता है।

शाक्य जनपद का बुद्ध की जन्मस्थली के रूप में तो महत्त्व है ही, यहाँ के अनेक क्षत्रिय राजकुमारों की संघ-दीक्षा का उल्लेख भी मिलता है। यहीं के देवदत्त द्वारा कुछ समय तक बुद्ध के समानान्तर नेतृत्व पद प्राप्ति का विवरण मिलता है। स्वयं बुद्ध अपनी मातृ-स्वशा के निवेदन पर स्त्रियों के लिए संघ-प्रवेश की अनुमति देते है।

राहुल की प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा का विवरण महावग्ग में प्राप्त होता है तथा स्वयं बुद्ध ने अपने पिता शुद्धोदन के आग्रह पर अल्पवयस्कों को प्रव्रज्या देने के पूर्व माता-पिता की अनुमति का विधान बनाया था।[58] यद्यपि यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध के कपिलवस्तु आगमन का प्राचीन पालि साहित्य में कोई विश्वसनीय विवरण सुरक्षित नहीं मिलता है।

कपिलवस्तु के पूर्व अवस्थित कोलिय जनपद बुद्ध के ननिहाल के रूप में उल्लिखित है।[59] परवर्ती बौद्ध परम्परा शाक्यों एवं कोलियों के मध्य रोहिणी नदी के जल के बँटवारे का विवाद हल करने का श्रेय बुद्ध को देती है। भिक्षुणी-संघ की स्थापना में भी प्रजापति गौतमी के साथ कोलिय महिलाओं की भी उल्लेखनीय भूमिका थी।[60] यहीं की सुप्पवासा भिक्षादायिकाओं में प्रथम घोषित थी।[61] यहाँ के हलिद्दवसन[62] एवं सन्जलेन ग्राम का भी बुद्ध-चारिका के प्रसंग में उल्लेख मिलता है।

वत्स जनपद की राजधानी कौशाम्बी का बुद्ध-चारिका एवं बौद्ध धर्म की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व लक्षित होता है। यहाँ का बुद्धकालीन शासक उदयन न केवल उपासक बना बल्कि बौद्ध धर्म के सर्वक्षेत्रीय विकास में उसके राज्याश्रय ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इसी प्रकार यहाँ के वणिक श्रेष्ठि वर्ग का भी बुद्ध के प्रति अतिशय सम्मान दिखाई देता है।

भर्ग देश में स्थित भेसकलावन मृगदाव का भी बुद्धचर्य्या के प्रसंग में उल्लेख मिलता है। बुद्ध ने आठवीं वर्षा यहीं व्यतीत की थी।[63] यहीं बुद्ध ने नकुल माता-पिता जैसे लोगों को उपासिका-उपासक बनाया। अङ्गुत्तर निकाय में उपासक-उपासिकाओं में इनकी श्रेष्ठता का वर्णन है।[64]

प्राचीन पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध ने एकाधिक बार चेतिय जनपद में चारिका की एवं उपदेश दिए।[65] यहाँ का सहजाति निगम भी आयुष्मान महाचुन्द के निवास की दृष्टि से प्रतिष्ठित था।[66] यह स्थल अनुरूद्ध के अर्हत्व प्राप्ति के लिए भी सुख्यात है।[67] इसी जनपद के जन्तु नामक ग्राम में भी बुद्ध के जाने का प्रसंग मिलता है।[68]

बुद्ध की चारिका में वेरञ्जा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में इस बात को लेकर विवाद है कि बुद्ध किसके आमंत्रण पर वहाँ गए थे। जहाँ प्रारम्भिक पालि परम्परा बुद्ध के वेरञ्जा–आगमन का श्रेय वेरञ्जक ब्राह्मण के आमंत्रण को देती है वहीं सर्वास्तिवादी परम्परा ब्राह्मण शासक अग्निदत्त को। वेरञ्जा में बुद्ध का उचित आदर-सत्कार नहीं हुआ था परन्तु बुद्ध स्वयं निर्मित नियम वर्षावास तोड़कर अन्यत्र जाने का उपक्रम भी नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने वहाँ से गुजर रहे व्यापारियों

द्वारा प्रदत्त अन्न पर वर्षावास व्यतीत किया। चूंकि उस समय वेरञ्जा अकालग्रस्त था, व्यक्ति के लिए अपनी आजीविका चलाना ही कठिन था, अतः ऐसी स्थिति में बुद्ध एवं भिक्षु-संघ की उचित देखभाल न होना स्वाभाविक लगता है।

यद्यपि इस कृत्य से स्वयं वेरञ्जक ब्राह्मण भी आहत था। उसने बुद्ध की बिदाई के अवसर पर क्षमा-प्रार्थना के साथ उनको भिक्षु-संघ सहित भोजन हेतु आमंत्रित किया तथा बुद्ध को त्रिचीवर तथा भिक्षुओं को धुस्स के एक-एक जोड़े भी प्रदान किए।[69]

कतिपय साक्ष्यों से बुद्ध के मथुरा जाने का भी प्रमाण मिलता है। वेरञ्जा जाने के प्रसंग को देखते हुए यह सम्भव भी लगता है। किन्तु अन्तिम रूप से कुछ कह सकने के लिए यथेष्ट प्रमाणों की अपेक्षा है। कुरू जनपद स्थित कम्मासदम्म निगम का भी बुद्ध की चारिका की दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। यहीं पर प्रथमतः तो मागन्दिय बुद्ध के व्यवहार से कुपित हुआ था, परन्तु बाद में उनके उपदेश से प्रभावित होकर भिक्षु बन गया था।[70] ब्राह्मण भिक्षुणी नन्दुत्तरा[71] तथा मित्तकाली[72] भी यहीं की निवासी थीं।

मल्ल जनपद बुद्ध की चारिका की दृष्टि से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् राजकीय प्रश्रय एवं बुद्ध की परिनिर्वाण भूमि के रूप में भी विख्यात है। चारिका के एक प्रसंग में यहीं स्थित कुशीनारा में इनके द्वारा रोजमल्ल को प्रभावित करने [73] और उसके अनुरोध पर खाद्य सम्बन्धी कतिपय नियमों में छूट देने का भी उल्लेख मिलता है। पालि-सन्दर्भों से ऐसा विदित होता है कि चारिका के एक अन्य प्रसंग में बुद्ध ने वैशाली से यहाँ के लिए प्रस्थान किया। भण्डग्राम, भोगनगर होते हुए पावा के चुन्दकम्मार पुत्र के यहाँ पहुँचकर विश्राम किया और उसके अनुरोध पर शूकरमद्दव का भोजन कर अस्वस्थ हो गए। यहाँ से कुशीनारा की यात्रा के बीच आलार-कलाम के शिष्य पक्कुस मल्लपुत्र के बौद्ध उपासक होने का उल्लेख भी मिलता है।

अन्ततः वे मल्लों के उपत्तन शालवन में अस्वस्थ हो विश्राम करने लगे। यहीं सुभद्द नामक परिव्राजक उनसे प्रभावित हो उनके द्वारा दीक्षित अन्तिम भिक्षु बना।

इस प्रकार बुद्ध ने अपने अन्तिम वक्तव्य में भिक्षुओं को परस्पर सद्भाव

से रहने, धर्म-विनय को शास्ता मानने, नियमों में यथेष्ट परिवर्तन करने का निर्देश दिया। यहीं उन्होंने अपने जीवन से सम्बद्ध – जन्म, बोधि-प्राप्ति, धर्मचक्र-प्रवर्तन एवं परिनिर्वाण, जैसे महत्त्वपूर्ण घटनाओं से सम्बन्धित स्थलों क्रमशः लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ, कुशीनारा की बौद्ध तीर्थस्थलों के रूप में घोषणा की। तथागत के पार्थिव शरीर को चक्रवर्ती राजा के समान सम्मान देने, उस पर स्तूप निर्माण आदि की उद्घोषणा करते हुए वे यहीं परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार वैशाली से कुशीनारा की यह यात्रा न केवल बुद्ध की चारिका की बल्कि जीवन की अन्तिम यात्रा सिद्ध हुई। चुन्द कर्म्मारपुत्र का शूकरमद्दव अन्तिम भोजन, पक्कुस मल्लपुत्र अन्तिम उपासक तथा सुभद्द अन्तिम भिक्षु सिद्ध हुआ; बल्कि अन्त में आनन्द आदि की जिज्ञासा-शमन के प्रसंग में दिया गया वक्तव्य अन्तिम उपदेश सिद्ध हुआ, जिसे बौद्ध परम्परा "महापरिनिब्बान सुत्त" के रूप में सश्रद्धा स्मरण करती है।[74]

बौद्ध धर्म-संघ का मौलिक स्वरूप एवं समाज

यह अत्यन्त रोचक है कि गृही जीवन से प्रव्रजित हो सिद्धार्थ स्वयं के सतत उद्योग से न केवल सम्यक् संबुद्ध बन जाते हैं, वरन् स्वतः स्फूर्त करूणा-प्रसूत वेदना के कारण समाज को भव-बाधा-निस्तारण के लिए मध्यममार्गी सद्धर्म के उपदेश का संकल्प लेते हैं। बुद्ध की समग्र मान्यताओं के सामान्य अनुशीलन से बुद्ध विरक्तिमार्गी धर्म-संघ के संस्थापक के रूप में लक्षित होते हैं।

इस प्रकार बोधगया में पुष्पित-पल्लवित और सारनाथ में "धम्मचक्क पवत्तन सुत्त" के रूप में फलित बौद्ध धर्म शीघ्र ही स्वयं बुद्ध के जीवनकाल में ही मज्झिम देश की सीमा को लांघ प्रत्यन्त जनपद अवन्ति तक फैल गया जहाँ बुद्ध अथवा उनके शिष्यों ने उपदेश दिया। जहाँ बुद्ध अथवा उनके शिष्य नहीं गए वहाँ भी अनेक लोगों ने बौद्ध धर्म में अपनी अनुरक्ति व्यक्त की। भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका के रूप में हजारों लोग अनुयायी बने। निवृत्तिमार्गी, गृहत्यागी बुद्ध द्वारा उपदिष्ट यह अनतिचर सत्वर विकास अत्यन्त जिज्ञासावर्द्धक लगता है और इसके पीछे बौद्ध धर्म के मध्यममार्गी रूप के साथ ही संघ की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतीत होती है।

अतः धर्म-संघ के स्वरूप-ज्ञान के प्रति जिज्ञासा सहज स्वाभाविक है, किन्तु प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म एवं संघ का उपलब्ध स्वरूप अत्यन्त उत्कर्ष-प्राप्त है और सहज ही उसके विकास के अनेक चरण हो सकते हैं। लेकिन मौलिक एवं विकास प्राप्त जैसे दो विभाजन सहज रूप से उभरकर सामने आते हैं। जहाँ बुद्ध द्वारा उपदिष्ट प्रारम्भिक धर्म अपने विकसित रूप में दर्शन बन जाता है, वहीं चतुर्निश्रय आधृत "एको चरो खग्ग विषाण कप्पो"[75] का आचरण करने वाला भिक्षु-जीवन बहुत-कुछ समाज से असम्पृक्त, समाज के प्रभाव में "सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानां तपोसुखं" की ओर अग्रसर होता है।[76] अतः यहाँ धर्म एवं संघ के मौलिक स्वरूप की विवेचना का प्रयास किया जाएगा।

बुद्ध की प्रारम्भिक जीवनी से स्पष्ट है कि वे सांसारिक दुःखों की खोज में प्रव्रज्या लेते हैं और सतत अभ्यास के परिणामस्वरूप बोधगया में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म में भी सांसारिक दुःख एवं उनके निस्तारण की विवेचना सहज बोधगम्य है और यही कारण है कि अनेक विद्वान सारनाथ में उनके द्वारा उपदिष्ट "धम्मचक्क पवत्तन सुत्त" को मूल धर्म के रूप में पहचानने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि कतिपय विद्वानों में बुद्ध के इस मूल देशना के बारे में मत-मतान्तर हैं, लेकिन चार आर्य-सत्य को ही उनका मूल धर्म मानना उचित लगता है, क्योंकि उसमें सांसारिक दुःखों से निस्तारण के प्रयत्न की मंशा दिखाई देती है और कालान्तर का भी समस्त बौद्ध धर्म-दर्शन प्रायः इसी का विस्तार लगता है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में उपलब्ध चार आर्य-सत्य अपने वर्णित रूप में ही बुद्ध द्वारा उपदिष्ट हुए हों, इसके बारे में संशय हो सकता है।[77] बुद्ध के मूल धर्म के रूप में चार आर्य-सत्यों की विवेचना यहाँ आनुषंगिक होगी –

बौद्ध परम्परा प्रथम आर्य-सत्य के रूप में **"दुःख"** का उल्लेख करती है। स्वयं बुद्ध इस संसार को दुःख से संतप्त पाते हैं और प्रत्येक मानव भी उन्हें इस दुःख से ग्रसित दिखाई देता है। उनके अनुसार इच्छित वस्तु की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही दुःख का कारण है, क्योंकि सांसारिक दृष्टि से भी प्रत्येक वस्तु में सुख-दुःख अन्तर्निहित हैं, जैसे – जन्म के साथ मृत्यु, सुख के साथ दुःख, संयोग के साथ वियोग, आदि।

द्वितीय आर्य-सत्य के रूप में बुद्ध **"दुःख समुदय"** का उपदेश देते हैं,

जिसकी प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्गमय में **"द्वादश निदान"** के रूप में व्याख्या मिलती है और इसे ही **"प्रतीत्य समुत्पाद"** और **"कारण-कार्य शरणि"** भी कहा गया है। इसके विवेचन से इसमें भूत, वर्तमान और भविष्य कालिक परिवेश का संकेत मिलता है और जैविक गतिशीलता के विविध चरणों के कारकों को समझने में सहायता मिलती है। उनकी दृष्टि में दुःख का मूल कारण तृष्णा (वासना) है, जिसका अस्तित्व रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, आदि के प्रति आसक्ति में निहित है।

इसके अतिरिक्त तथागत ने "दुःख-समुदय" आदि से बचने के लिए **"दुःख निरोध"** का उपदेश दिया है। बुद्ध के अनुसार जिस प्रकार इस जगत् में "दुःख" एवं "दुःख समुदय" का अस्तित्व है, उसी प्रकार इनका निषेध भी सम्भव है, जिसे तृतीय आर्य-सत्य "दुःख निरोध" के रूप में जाना जाता है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट इस आर्य-सत्य के अनुसार प्रिय वस्तुओं का त्याग, तृष्णा-परित्याग, रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार, विज्ञान आदि का निषेध ही दुःख-निरोध है। इस प्रकार के आचरण से दुःख को समूल नष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार उल्लेखनीय है कि बुद्ध ने न केवल इस संसार को दुःख माना, "दुःख-समुदय" के रूप में दुःख के कारणों की व्याख्या की अपितु उन्होंने इन सांसारिक दुःखों का समूलोच्छेद भी सम्भव बताया और इस समूलोच्छेद के लिए चतुर्थ आर्य-सत्य **"दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा"** के रूप में अष्टाङ्गिक मार्ग – सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कमन्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि के अनुसरण का निर्देश दिया।

बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आर्य-सत्य एवं अष्टाङ्गिक मार्ग निर्वाण प्राप्ति के साधन के रूप में प्रशंसित हैं। यह अष्टाङ्ग मार्ग बुद्ध के "मध्यम-मार्ग" का निदर्शक है, जिसमें अतिशय काय-क्लेश एवं अतिशय भोग-विलास, दोनों अतियों के प्रति वर्जना लक्षित होती है।[78]

बुद्ध के इस मूलोपदेश के प्रकाश में कतिपय विद्वानों का बुद्ध को निराशावादी मानना उचित नहीं लगता क्योंकि उन्होंने संसार को दुःखमय

मानकर परित्याज्य ही नहीं कहा, अपितु एक श्रेष्ठ भिषक् की तरह उन्होंने दुःखों का निदान और उसके लिए उपयुक्त मार्ग का निर्देश भी दिया।[79]

समाज के ऐतिहासिक विकास-क्रम से संघ की सामुदायिक वृत्ति, चरम निष्पत्ति के रूप में उभरकर सामने आती है और यह विवेच्य युग में श्रेणी संगठनों, राजनीतिक संघों, यहाँ तक कि धार्मिक सम्प्रदायों – आजीविकों, निगण्ठों, में भी लक्षित होती है।[80] यद्यपि बौद्ध धर्म में संघ का यह स्वरूप और अधिक व्यवस्थित दिखाई देता है। अतः लगता है के इस युग में कर्म के प्रति जागृति के कारण लोगों को अपने कार्य की वैधता-सिद्धि और दूसरों की प्रतिद्वन्द्विता में अधिक समर्थ हो सकने के लिए इस प्रकार के संगठन की अपेक्षा हुई होगी।

रोचक है कि धम्मपद में निठल्ला विचरण करते हुए राष्ट्रपिण्ड का दुरूपयोग करने वाले व्यक्ति के गले में तप्त लौहपिण्ड डाल देने की बात कही गई है।[81] इसी प्रकार स्वयं प्रशासनिक प्रतिनिधि अजातशत्रु[82] और उत्पादन क्षेत्र से सम्बद्ध कसि भारद्वाज[83] बुद्ध से उनके कार्य-व्यापार के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करते हैं। अतः इन परिस्थितियों में संगठन-भाव स्वाभाविक है और सम्भवतः यही कारण है कि अपने चिन्तन के प्रचार-प्रसार में अभिरूचि रखने वाले बुद्ध ने इसे बहुविध व्यवस्थित रूप दिया। यद्यपि प्रारम्भ में यह जहाँ मात्र धर्म-प्रचारक संस्थान के रूप में लक्षित होता है[84] वहीं धीरे-धीरे यह बौद्ध भिक्षुओं के जीवन को नियंत्रित-संयमित करने वाली महत्त्वपूर्ण संस्था भी बन जाता है। प्रारम्भ में बौद्ध-संघ के रूप में मात्र भिक्षु-संघ ही ज्ञात था कालान्तर में भिक्षुणी-संघ को भी अस्तित्व मिला और संघ की समृद्ध अवस्था में उपासक-उपासिकाओं में भी संगठन का अनुमान होता है। 'स्थानीय' एवं 'चातुदस्स भिक्षु संघ' जैसा भेद भी उभरकर सामने आता है।[85]

सद्धर्म के प्रारम्भिक चरण एवं उदय की स्थिति में बुद्ध ने भिन्न-भिन्न दिशाओं में घर-घर जाकर उपदेश देने[86] और उनके जीवन को चतुर्निश्रय से नियंत्रित होने की अनुज्ञा दी और इसके विपरीत आचरण को दोषावह माना।

इस प्रकार भिक्षुओं का जीवन सुगम नहीं था, किन्तु क्रमशः बढ़ते सामाजिक सम्पर्क, जुड़ते अतिरेक लाभ के कारण बौद्ध भिक्षुओं के जीवन

में शिथिलता का अनुमान किया जा सकता है। कामभोगी गृहस्थ होने का उन पर आक्षेप लगाया जाता है। कतिपय सन्दर्भों में तो बौद्ध भिक्षुओं के सुखी जीवन को देखते हुए कुछ लोग अपने पुत्रों की बौद्ध-संघ में दीक्षा के लिए अभिलषित दिखाई देते हैं।[87] मठों के निर्माण उसमें भोजनादि की व्यवस्था के कारण ये मठ ही शिक्षण-संस्थान बन गए और जन-जागरण के अभियान में शिथिलता आई, किन्तु इन्हें दशाब्दियों के विकास का परिणाम स्वीकार करना चाहिए। प्रसंगवश यहाँ संघ की उत्पत्ति एवं प्रारम्भिक स्वरूप की विवेचना उपयोगी होगी।

जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य के अनुशीलन से इतना तो सुस्पष्ट है और जैसा कि ऊपर उल्लेख भी किया जा चुका है कि भारतीय धर्मों में संघ की स्थापना पूर्व-ज्ञात थी। निगण्ठ एवं आजीविक सम्प्रदाय के संघीय स्वरूप को इसके ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध-संघ निश्चय ही अत्यन्त सुव्यवस्थित था। वह बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में तो सहायक सिद्ध हुआ ही, दूसरे सम्प्रदायवादियों के लिए भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ और उनमें बौद्ध परम्परा के अनुसरण का प्रयास किया गया। स्वयं बौद्ध संघ की स्थापना के पीछे कतिपय आधुनिक विद्वानों ने तत्कालीन राजनीतिक गणसंघों के प्रभाव को देखने की चेष्टा की है।[88] बुद्ध के जन्म-क्षेत्र विशेष के गणतंत्र-प्रधान होने के कारण इसे सर्वथा असम्भव भी नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार बौद्ध वाङ्मय में संघ की औपचारिक स्थापना के समय का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण संघ के स्थापन-काल के बारे में भी मत-मतान्तर हैं। उपलब्ध सन्दर्भों के प्रकाश में कतिपय विद्वानों ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की प्रव्रज्या के साथ ही संघ की स्थापना का अनुमान किया है।[89] यद्यपि यह मत सैद्धान्तिक रूप से सहज स्वीकार्य है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसे यश तथा उसके स्नेही मित्रों स्वजनों की दीक्षा के साथ मानना चाहिए जबकि भिक्षुओं की संख्या 60 हो गई थी।[90]

पालि त्रिपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के लिए न तो कठिन जीवनचर्य्या और न ही भोग-विलासयुक्त जीवन की अवधारणा है अपितु सरल आचार-

व्यवहारयुक्त जीवन-वृत्ति का उल्लेख है।[91] सम्भवतः इसी के अन्तर्गत तथागत ने **चतुर्निश्रय-विधान** का निरूपण किया, जो कि एकान्त एवं अरण्यवासी भिक्षुओं के जीवन के लिए आवश्यक था। क्षुधा-पूर्ति संसार के समस्त प्राणियों की एक मूलभूत दैनिक आवश्यकता होती है, बौद्ध भिक्षु भी इसी आवश्यकता से बँधे हुए थे। सम्भवतः यही प्रमुख कारण था कि चिन्तन-मनन के साथ शारीरिक क्रिया-कलापों के सम्पादन हेतु प्रथम निश्रयान्तर्गत भिक्षान्न का विधान बना। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भिक्षा के रूप में प्राप्त भोजन मात्र जिह्वा-स्वाद एवं क्षुधा-शान्ति के लिए नहीं, वरन् जीवन-निर्वाह एवं ब्रह्मचर्य-वास की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अनुमत था।

इसी प्रकार द्वितीय निश्रय के रूप में बौद्ध भिक्षुओं के लिए वस्त्रोपयोग की अनुमति का विवरण मिलता है। आरम्भिक समय में भिक्षुओं को फेंके हुए फटे चीथड़ों से निर्मित पांसुकूलिक चीवरों के उपयोग की अनुज्ञा प्रदान की गई। यद्यपि बुद्ध चाहते तो महावीर स्वामी के समान अपरिगृही हो अचेलक के रूप में भी रह सकते थे, परन्तु सामाजिक नियमों एवं मर्यादा को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने भिक्षुओं का नग्न रहना निषिद्ध किया तथा साज-सज्जा के लिए नहीं अपितु लाज-शर्म ढकने एवं प्रकृतिजन्य एवं परिस्थितिजन्य कठिनाइयों से बचने के लिए पांसुकूलिक चीवरों के उपयोग का विधान बनाया।

तृतीय निश्रय के रूप में "वृक्षमूलिक" आवास व्यवस्था का विवरण मिलता है जिसके अन्तर्गत आरम्भ में बौद्ध भिक्षुओं के लिए वृक्षों के नीचे निवास करना अनुमत था तथा उन्हें वर्षा, सर्दी, गर्मी, जीव-जन्तुओं से बचाव आदि के लिए सामान्य प्रकार के सेनासन के उपयोग की छूट थी।

चतुर्थ निश्रयान्तर्गत बौद्ध भिक्षुओं की चिकित्सा के लिए "ग्लान-प्रत्यय" के रूप में गौमूत्र-भैषज्य" का विधान था। स्वस्थ क्रिया-कलाप के लिए स्वस्थ मस्तिष्क अपेक्षित है और स्वस्थ मस्तिष्क के लिए निरोगी स्वस्थ-शरीर। सम्भवतः यही कारण है कि चिन्तनपरक बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के स्वास्थ्य के प्रति भी जागरूकता दिखाई देती है।

यदि जैन परम्परा को छोड़ दिया जाए तो शब्दावली चाहे जो भी हो, तत्कालीन सभी परम्पराओं में गृहत्यागी भिक्षुओं के लिए इन चार अपरिहार्य

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुमति और स्वयं जैन भिक्षुओं के लिए भी मात्र वस्त्र को छोड़कर शेष तीन निश्रयों का विधान था। अनुभूतिजन्य कठिनाइयों, समाज से बढ़ते सम्पर्क, श्रद्धा-सम्मान अथवा अपने लाभ-सत्कार के लिए गृहियों द्वारा प्रदत्त विविध प्रकार की वस्तुओं के कारण इन चतुर्निश्रयों में समय-समय पर अतिरेक लाभ भी जुड़ते गए। यही बात प्रायः सभी सम्प्रदायवादियों के लिए कही जा सकती है, परन्तु आचार एवं विचार दोनों पक्षों से मध्यममार्गी होने के कारण बौद्ध भिक्षुओं के जीवन पर उसका अधिक प्रभाव लगता है।

यद्यपि बौद्ध धर्म में भी ये अतिरेक लाभ परिस्थितिजन्य एवं नियमबद्ध थे; यह बात अलग है कि यत्र-तत्र कतिपय भिक्षु-भिक्षुणी इनका दुरूपयोग करते भी वर्णित हैं।

बौद्ध धर्म एवं उसके अभ्युदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सामान्य विवेचन से सुविदित है कि तत्कालीन परिवेश में विभिन्न क्षेत्रों में चिन्तनशील प्रवृत्तियों का उद्भव हो रहा था, समाज की माँग के अनुरूप व्यवस्था में बदलाव, तथा धार्मिक प्रतिमानों में परिवर्तन का दौर प्रारम्भ हो चुका था। इन्हीं परिस्थितियों में श्रमण-परम्परा का उदय हुआ, जिसमें न केवल गौतम बुद्ध बल्कि उनके द्वारा प्रादुर्भूत बौद्ध धर्म का अनेक दृष्टियों से विशिष्ट स्थान प्रतीत होता है।

बौद्ध धर्म-संघ के व्यापक प्रभाव ने जहॉं ब्राह्मणवादी कर्म-काण्डों का विरोध किया वहीं नियतिवादी चिन्तन की मान्यताओं को खण्डित करते हुए कर्म-प्रधान समाज की संरचना को बढ़ावा दिया। कर्माधारित समाज की सामाजिक साम्यता ने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

संदर्भ-सूची

1 दी. नि. "महागोविन्द सुत्त" – "उत्तरेण आयतं दक्खिणेन सकटमुखं।"
2. तुलनीय उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 70 और आगे।
3. पिटक साहित्य में अनेक सुत्तों में वर्णित अनुपिया वन, लट्ठिया वन, अम्बाटक वन, गोसिंग सालवन न्यग्रोध वन, पावारिकम्ब वन, वेणुवन, आदि के आधार पर इस प्रकार का अनुमान किया जा सकता है।

4. हार्नले, ए०एफ०आर०, ''आजीविकाज़'' एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन्स एण्ड एथिक्स, जि० 1, पृष्ठ 259; बैशम महोदय ने (हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स ऑव आजीविकाज़, पृष्ठ 103) हार्नले के मत के सत्य होने की सम्भावना व्यक्त की है।
5. दुबे, सीताराम (सं.), बौद्धयुगीन भारत, पृष्ठ 84.
6. – वही – पृष्ठ 80.
7. तुलनीय, पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 19.
8. – वही – पृष्ठ 17.
9. – वही – पृष्ठ 18.
10. वार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 29 और आगे।
11. कोशाम्बी, धर्मानन्द, भगवान बुद्ध, पृष्ठ 111; तुलनीय, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास पृष्ठ 11 और उसकी पाद टिप्पणी।
12. रीस, डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ 11-12; जायसवाल, के०पी०, हिन्दू पालिटी,, पृष्ठ 40-42.
13. तुलनीय, पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 16.
14 फिक, रिचर्ड, दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, पृष्ठ 222; सुत्त निपात, कसि भारद्वाज सुत्त।
15. वि०म०, 6.34, मेण्डक गृहपति के साजो-सामान से अनुमान है कि वह कृषक था।
16. वि०म०, 8.1.17, राजगृह श्रेष्ठि का राजकर्मचारी के रूप में भी वर्णन मिलता है।
17. रीस डेविड्स, टी० डबल्यू०, बुद्धिस्ट इण्डिया, 68-69; आप्टे वैदिक एज, पृष्ठ 487-89.
18. तुलनीय पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज़्म, पृष्ठ 314-15; रीज डेविड्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जि० 1, पृष्ठ 189.
19. रीस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ 103-105.
20. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 21.
21. तत्कालीन संगठित समाज एवं श्रेणियों के महत्व के लिए देखें, मजूमदार, रमेशचन्द्र, कारपोरेट इन एन्शियेन्ट इण्डिया तथा पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 20-21.
22. तुलनीय दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 7-8.
23. इस प्रकार की विस्तृत अवधारणा के लिए देखें टाऊनी,, रिलिजन एण्ड दि राइज़ ऑव कैपिटलिज़्म, तुलनीय पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 21.

24. तुलनीय, दत्त, नलिनाक्ष एवं बाजपेयी, के०डी०, उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ 38.
25. दी. नि., "उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त", "ब्रह्मजाल सुत्त" आदि।
26. सूत्रकृताङ्ग, 1.12.
27. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज़्म, पृष्ठ 347-48 तथा बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 35-36.
28. तुलनीय दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 58.
29. गौतम बुद्ध की विस्तृत जीवनी के लिए देखें - ओल्डेनबर्ग, हर्मन, बुद्धा हिज़ लाइफ, हिज़ डाक्ट्रिन एण्ड आर्डर; कर्न, एच., मैन्युअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 12 और आगे; थामस, ई. जे., दी लाइफ ऑव बुद्ध ऐज़ लीजैण्ड एण्ड हिस्ट्री, गौतम बुद्ध की जीवनी लेखन का विस्तार सहित अत्यन्त प्रामाणिक प्रयास है। पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 40 और आगे। पाण्डे महोदय ने भी प्रामाणिक किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत की है।
30. देखें, म० नि०, "बोधि राजकुमार सुत्त"।
31. वि० म०, 1.4.
32. अ० वि०, 1.14 (च, 1); 6.12.3 (तपुस्स सुत्त); 6.12.4-23 (भल्लिकादि सुत्तानि), वि० म०, 1.4.
33. वि० म०, 1.6.7-9.
34. कौण्डिन्य, वप्प, भद्दिय, महानाम तथा अश्वजित – यही पाँचों मित्र बौद्ध परम्परा में 'पञ्चवर्गीय भिक्षु' के नाम से विख्यात हैं।
35. वि० म०, 1.7.10 और 1.8.
36. वि० ग०, 1.11, "चरन्थ भिक्खवे चारिकम् बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय, सुखाय देवमनुस्सानम्। मा एकेन द्वे आगमित्थ देसेघ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्यानम् .... पकासेम्।" (नालन्दा प्रकाशन)
37. वि० म०, 1.14.
38. प्रातिहार्य-प्रदर्शन के विवरण को सामान्यतः इतिहास-सम्मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भव है कि बौद्धों ने विशिष्ट घटनाओं को महिमामण्डित करने के उद्देश्य से इस प्रकार की "चमत्कार-प्रदर्शन की कथाओं का निर्माण किया हो या फिर इस प्रकार के उदाहरणों के माध्यम से बुद्ध के प्रति श्रद्धावर्द्धन की भावना निहित हो।
39. वि०म०, 1.22.6 और आगे; तुलनीय मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जि० 2, पृष्ठ 286; पाद टिप्पणी।

40. वि०म०, 1.23 और 24.
41. दी० नि० "सामञ्‍ञफल सुत्त।"
42. क्रमशः सं०नि०, 4.18 (पिण्डसुत्त) और वि०म०, 1.24.5.
43. स०नि० 16.11 (चीवरसुत्त)।
44. सं०नि०, चित्त संयुत्त, 41.1 और आगे, विशेषकर 17.23 (एक पुत्तक सुत्त); अं०नि०, 2.12.3; 4.18.6 (आयाचन सुत्त)।
45. मं०नि०, "कीटागिरि सुत्त।"
46. बैशम, ए० एल०, हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन ऑव आजीविकाज, पृष्ठ 132.
47. म०नि०, 2, पृष्ठ 124, ("भगवापि कोसलको अहमपि कोसलको" - प्रसेनजित के उक्त कथन को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है)।
48. विद्वानों ने 14वीं, 20वीं वर्षावासों के अतिरिक्त शेष 26 वर्षावासों को बुद्ध द्वारा श्रावस्ती में व्यतीत करने की बात स्वीकार की है, परन्तु 'महापरिनिब्बान सुत्त' के अनुसार उन्होंने अन्तिम वर्षा वैशाली के निकट वेलुव ग्राम में व्यतीत की। हो सकता है इसी प्रकार कुछ अन्य वर्षाएँ भी बुद्ध ने कुछ अन्य स्थानों पर व्यतीत की हों। देखें - दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त"; तुलनीय पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 55.
49. म०नि०, "चूलहत्थिपदोपम् सुत्त।"
50. देखें, दी०नि० "सोणदण्ड सुत्त" और वि०पि०, पृष्ठ 15 (हिन्दी) की टिप्पणी भी।
51. - वही - "सोणदण्ड सुत्त।"
52. वि०म०, 6.34.
53. तुलनीय राकहिल, डबल्यू० डबल्यू०, दी लाइफ ऑव बुद्ध, पृष्ठ 17 और आगे; देव, शान्ताराम भालचन्द्र दि हिस्ट्री ऑव जैन मोनाशीज़्म फ्राम इन्सक्रिप्शन्स एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ 71 और आगे के उदाहरण के अनुसार वैशाली नरेश चेटक से महावीर का मातृवंशीय सम्बन्ध जैन धर्म के विकास-विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ।
54. दत्त, नलिनाक्ष, अर्ली हिस्ट्री ऑव दी स्प्रेड ऑव बुद्धिज़्म एण्ड बुद्धिस्ट स्कूल्स, पृष्ठ 74.
55. म०नि०, "चूलसच्चक सुत्त।"
56. वि०म०, 6.31, अं०नि०, 5.4.4, (सीह सेनापति सुत्त)।
57. वि०म०, 6.30, दी०नि० "महापरिनिब्बान सुत्त"; सं०नि०, 47.1 (अम्बपालि सुत्त)।
58. वि०म०, 1.54.

59. समीकरण के लिए देखें - उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 307.
60. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जि० 2, पृष्ठ 522-24.
61. अं०नि०, 1.14 (छ, 6) और 8.10.
62. म०नि०, "कुक्कुरवतिक सुत्त", सं०नि०, 46.54 (मेत्तासहगत सुत्त)।
63. बु०व्या०, 3, उद्धरण के लिए देखें, जी०पी० मललसेकर, डिक्शनरी, जि० 2, पृष्ठ 393 (भेसकलावन का सन्दर्भ)।
64. अं०नि०, 1.14 (च, 10), 6.12.4-23 (भल्लिकादि सुत्तानि), 1.14 (छ, 10), 8. 10 (सामञ्ञवग्ग) आदि।
65. दी०नि०, "जनवसभ सुत्त" ।
66. अं०नि०, 6.5.4 (महाचुन्द सुत्त), 10.3.4 और 10.9.5 (महाचुन्द सुत्त और कुत्थी सुत्त)।
67. अं०नि०, 8.3.10 (अनुरूद्ध महावत्तिक सुत्त)।
68. - वही - , 9.1.3 (मेधिय सुत्त)।
69. वि०सु०, "पञ्ञतिनिदान कथा" (भि०पा०); अं०नि० 8.2.1 (वेरञ्ज सुत्त)।
70. म०नि०, "मागन्दिय सुत्त" ।
71. थेरीगाथा, 87-91, रीस डेविड्स, सिस्टर्स गाथा 43, पृष्ठ 58 और आगे।
72. - वही - गाथा 92-96, रीस डेविड्स, सिस्टर्स गाथा, 42, पृष्ठ 57 और आगे।
73. वि०म०, 6.36.
74. दी०नि० "महापरिनिब्बान सुत्त।"
75. सु०नि०, "खग्ग विषाण सुत्त।"
76. धम्मपद, गाथा 194, बुद्ध वग्ग, तुलनीय, गोखले, बी०जी०, इ० हि० क्वा०, जि० 32, पृष्ठ 35.
77. तुलनीय, पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 72.
78. "आर्य सत्यों" की विस्तृत विवेचना के लिए देखें, चटर्जी एवं दत्त, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 76 और आगे तथा पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 72 और आगे।
79. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, स्टडीज़ इन दी ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज़्म, पृष्ठ 399-400, तुलनीय बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 73.
80. वार्डर, ए०के०, बु०ओ०, स्ट०, जि०, 18, भाग 1, पृष्ठ 48, बैशम, ए०एल०, स्ट० हि० बु०, पृष्ठ 17-18, तुलनीय दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 12.

81. धम्मपद, गाथा 308.
82. दी०नि० "सामञ्ञफल सुत्त", तुलनीय वार्डर, ए०के०, बु० ओ० अ० स्ट०, जि० 18, भाग 1, पृष्ठ 48.
83. सं०नि०, "कसि भारद्वाज सुत्त" और सु०नि० "कसि भारद्वाज सुत्त"
84. दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 13.
85. दोनों प्रकार के संघों की सूचना के लिए देखें, मजूमदार, आर०सी०, कारपोरेट लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 133.
86. वि०म०, 1.11.
87. वि०म०, 1.49, (जहाँ उल्लेख है कि उपालि तथा उसके मित्रों को उनके अभिभावकों ने सुखप्रद जीवन की कामना से संघ दीक्षित कराया था।)
88. तुलनीय, रीस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ 11-12, जायसवाल, के०पी०, हिन्दू पालिटी, पृष्ठ 40-42.
89. दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 67.
90. वि०म०, 1.9 तथा 1.10.
91. तुलनीय, दुबे, सीताराम (सं०), बौद्धयुगीन भारत, पृष्ठ 71.

अध्याय तृतीय

संघ के सदस्यों का वर्गीकरण एवं सांख्यिक विश्लेषण

किसी भी प्रकार का संघ सदस्यों का समूह होता है एवं उसकी संस्थापना कुछ निश्चित उद्देश्यों को लेकर की जाती है तथा यह सदस्यों के सामूहिक उत्तरदायित्व का सूचक होता है। बौद्ध संघ भी इसका अपवाद नहीं था। यह बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं का समूह था। संघ की स्थापना के पीछे सद्धर्म के प्रचार-प्रसार का भाव निहित था। भिक्षु-भिक्षुणियों के नियमन-संयमन के लिए न केवल यह प्रयत्नशील था बल्कि इससे उसके उत्तरदायित्व आदि का भी अनुमान किया जा सकता है। किसी भी संघ के स्वरूप को जानने के लिए उसके सामाजिक-आर्थिक परिवेश, वर्ण-जातिगत प्रतिनिधित्व आदि का सम्यक् विश्लेषण अपेक्षित होता है। यहीं बात यहाँ बौद्ध संघ के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है।

वैसे तो बौद्ध संघ गृहत्यागी भिक्षु-भिक्षुणियों का ही समूह था जिसमें प्रवेश के लिए सभी जाति वर्गों की अनुज्ञा थी और बुद्ध ने सबको शाक्यपुत्रीय श्रमण का सम्बोधन दिया था[1] तो भी सामाजिक सम्पर्क के कारण बौद्ध धर्म-संघ के स्वरूप में अनेकशः परिवर्तन आया। इसलिए उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन और अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। प्रारम्भिक पालि साहित्य में संघ में दीक्षित होने वालों एवं विविध प्रकार से सहायता करने वालों के न केवल नाम का सन्दर्भ प्राप्त होता है वरन् उनमें से अधिकांश के वर्ण-जाति एवं वर्ग का भी स्मरण किया गया है, जिनके समग्र विवेचन एवं सांख्यिक विश्लेषण के आधार पर उपासक-उपासिकाओं एवं भिक्षु-भिक्षुणियों के विभिन्न जाति-वर्गों के आनुपातिक प्रतिनिधित्व का

अध्ययन किया जा सकता है। वैसे तो बौद्ध संघ के अध्ययन के सन्दर्भ में उसकी आर्थिक पृष्ठभूमि की विवेचना भी उपयोगी लगती है किन्तु वह स्वतंत्र शोध का विषय हो सकती है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में संघ के सदस्यों के सामाजिक वर्गीकरण एवं सांख्यिक विश्लेषण का प्रयत्न होगा।

ऋषिपत्तन मृगदव (सारनाथ) में ब्राह्मण अज्ञात कौण्डिन्य आदि पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की प्रव्रज्या के साथ ही बौद्ध धर्म को संघीय स्वरूप प्राप्त होता है[2] एवं संघ की सदस्यता ग्रहण करने का सूत्रपात होता है। द्रुत गति से लोगों के संघ में दीक्षित होने का क्रम चल पड़ता है। वाराणसी के निवासी श्रेष्ठि-कुलपुत्र यश, उसके मित्र विमल, सुबाहु, अश्वजित तथा गवाम्पति सहित अन्य पचास स्नेही स्वजनों की प्रव्रज्या[3], ब्राह्मण काश्यप बन्धुओं के नेतृत्व में एक हजार जटिलों की प्रव्रज्या[4], राजगृह में संजय परिव्राजक के दो प्रमुख ब्राह्मण शिष्यों, कोलित (मौदगल्यायन) एवं उपतिष्य (सारिपुत्र), द्वारा अपने दो सौ पचास अनुयायियों सहित संघ-दीक्षा आदि[5] को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार की घटनाओं के प्रचार-प्रसार ने जनमानस को एवं तद्युगीन अन्य तैर्थिकों को भी उद्वेलित किया तथा वे भी संघ की ओर आकृष्ट हुए। इस प्रकार हजारों की संख्या में लोगों ने संघ में प्रवेश किया तथा स्थिति के अनुरूप अपना योगदान दिया। अतः बौद्ध धर्म-संघ में किन जाति-वर्गों ने प्रवेश किया, के प्रति जिज्ञासा स्वाभाविक है।

यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन की पूर्व-पीठिका श्रीमती रीस डेविड्स, गोखले महोदय[6] तथा डियांग महोदय[7] ने निर्मित कर दी थी एवं दुबे महोदय ने अपने इस प्रकार के अध्ययन को नवीन तथ्यों एवं निष्कर्षो के माध्यम से और अधिक पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।[8] जहाँ गोखले महोदय का सम्पूर्ण कार्य पूर्ण रूप से थेर-थेरी गाथा पर आधृत है, वहीं दुबे महोदय ने प्राचीन पालि सन्दर्भों – विनयपिटक एवं सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों तथा खुद्दक निकाय के धम्मपद एवं सुत्त-निपात, उदान, थेर-थेरी गाथा, के विश्लेषण का प्रयास किया है। प्रस्तुत अध्ययन विशेषतः गोखले एवं दुबे महोदय के कार्यों पर ही आधारित है, किन्तु उल्लेखनीय

है कि इनके अध्ययनों की भी अपनी सीमाएँ हैं। जहाँ गोखले महोदय का कार्य संकुचित होकर रह गया है, वहीं दुबे महोदय के अध्ययन में विभिन्न वर्गों के वर्गीकरण में कतिपय महत्त्वपूर्ण भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं के सन्दर्भों का छूट जाना भी ध्यान आकर्षित करता है।

संघ के सदस्यों के कतिपय अतिरिक्त नामों की प्राप्ति तथा सांख्यिक परिगणन विषयक भेद को छोड़ दिया जाए तो यह अध्ययन दुबे महोदय के अध्ययन के निकट है। यद्यपि कुछ विषयों पर मतभेद है; परन्तु संयोगवश हमारे निष्कर्ष लगभग उनके समान हैं।

शोध-प्रबन्ध की समयावधि को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के अध्ययन के स्रोत के लिए प्रारम्भिक पालि साहित्य ही उपादेय प्रतीत होता है। अतः मैंने भी इस अध्ययन के लिए दुबे एवं गोखले महोदय द्वारा अधीत उपरिलिखित ग्रन्थों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

इन ग्रन्थों में अपेक्षित सूचनाएँ उपलब्ध हैं और प्राचीन होने के कारण सहज स्वीकार्य भी हैं, परन्तु प्राप्त नामों के विस्तृत विवरण के लिए अट्ठकथाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। हां, इन अट्ठकथाओं के समसामयिक नहीं होने के कारण इनमें उपलब्ध सूचनाओं के सन्दर्भ में संशय अवश्य बना रहता है; परन्तु उन्हें सर्वांश में असत्य मानकर अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि विनयपिटक एवं निकायों को प्रामाणिकता की कसौटी पर प्रथम क्रम पर रखा गया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि प्रस्तुत अध्ययन में अधिकांश उद्धरण तो बुद्धकालीन हैं और किसी न किसी रूप में बुद्ध की जीवनचर्य्या से सम्बद्ध हैं। किन्तु कुछ ऐसे प्रसंगों को भी समाविष्ट किया गया है, जो बुद्ध के मरणोपरान्त संघ के सदस्य बने तथा जिनको अशोक के पूर्व रखा जा सकता है। यही हमारे अध्ययन की समयावधि भी है।

यद्यपि बुद्ध के परिनिर्वाणोत्तर संघ में दीक्षित उपासक-उपासिकाओं, भिक्षु-भिक्षुणियों के सांख्यिक प्रतिनिधित्व का अध्ययन तो "परिनिर्वाणोत्तरकालीन धर्म-संघ" वाले अध्याय में होना चाहिए था; किन्तु पालि साहित्य का स्वरूप ही ऐसा है कि उसके आधार पर यह निर्णय ले

पाना कि कितने भिक्षुओं को बुद्ध के पूर्व अथवा परिनिर्वाणोत्तर रखा जाय, कठिन है। अतः हमारे अध्ययन की समयावधि "बुद्ध से लेकर अशोक पूर्व तक" के संघ दीक्षित भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं को समग्र रूप से इसी अध्याय में सम्मिलित कर अध्ययन किया गया है।

थेर-थेरी गाथा में संकलित उन समस्त भिक्षु-भिक्षुणियों को अध्ययन में सम्मिलित किया गया है जिनकी गाथाएँ सुरक्षित हैं या उन गाथाओं में जिन भिक्षु-भिक्षुणियों का प्रसंगवश स्मरण किया गया है। वहीं कुछ भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों की स्पष्ट पहचान होने के उपरान्त भी अध्ययन में सम्मिलित नहीं किया गया है;[9] क्योंकि प्राचीन साक्ष्यों से इनके नाम समर्थित नहीं हैं तथा उपलब्ध रूप में इनके अशोक के बाद होने की सम्भावना लगती है। साथ ही इन भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं को भी अध्ययन- क्षेत्र के बाहर रखा गया है जिनका मात्र अट्ठकथा में ही उल्लेख है।

पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन के आधार पर संघ के सदस्यों को मुख्य रूप से दो वर्गों–(1) भिक्षु-भिक्षुणी और (2) उपासक-उपासिका में विभाजित किया जा सकता है। पुनः प्रथम वर्ग के भिक्षु-भिक्षुणियों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम, वे जो पूर्व-प्रव्रजित थे एवं अन्य धार्मिक सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों के अभिन्न अंग थे।[10] दूसरे वे, जो गृह त्यागकर प्रव्रजित हुए थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत उपासक-उपासिकाओं की भी यही स्थिति लक्षित होती है। यद्यपि उन उपासक-उपासिकाओं की संख्या सर्वाधिक है जो प्रथम ही सद्धर्म में त्रिशरणगमन द्वारा दीक्षाधारी बने। साथ ही कुछ ऐसे भी थे जो पूर्व में अन्य धार्मिक सम्प्रदाय के उपासक थे; परन्तु कालान्तर में सद्धर्म से प्रभावित होकर उपासक बने।[11] जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं का न केवल जातिगत सन्दर्भ प्राप्त होता है; अपितु उनके सामाजिक परिवेश का विवरण भी प्राप्त होता है। इनमें उल्लिखित दीक्षित भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं की संख्याओं एवं दीक्षा सम्बन्धी प्रसंगों में, चाहे जितनी अतिशयोक्ति हो; परन्तु नामोल्लिखित दीक्षाधारियों की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।[12]

हमारे द्वारा संकलित एवं प्रस्तुत आंकड़ों की अपनी सीमाएँ हैं। प्रस्तुत सीमाओं, अध्ययनगत कठिनाइयों एवं उनके समाधान के लिए अपनाई गई पद्धति की विवेचना तथा सद्धर्म के विकास में सहायक विभिन्न भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासक-उपासिकाओं के सांख्यिक विश्लेषण एवं वर्गीकरण के लिए आसन्न कठिनाइयों के निराकरण के लिए अपनाई गई पद्धति का यहाँ सविस्तर विवरण उपयोगी होगा।

अन्तिम रूप से न तो यही कहा जा सकता है कि सद्धर्म-दीक्षित समस्त भिक्षु-भिक्षुणी तथा उपासक-उपासिकाओं के नाम सुरक्षित हैं और न ही सभी सुरक्षित नामों का समाज के भिन्न-भिन्न घटकों के रूप में समीकरण सम्भव लगता है। विविध सन्दर्भों के अध्ययन से जनगणना के प्रसंग में 500, 1200, 1250 की संख्या तथा आयु के सन्दर्भ में 120 वर्ष का उल्लेख रूढ़ हो गया लगता है।[13] इनमें से अनेक अतिरञ्जित संख्याओं को बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के महिमामण्डन एवं प्रभाव-प्रदर्शन के लिए माना जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि प्राचीन पालि साहित्य में अनेक स्थलों पर भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासक-उपासिकाओं के रूप में लोगों के सामूहिक रूप से दीक्षित होने का सन्दर्भ प्राप्त होता है। उनमें से किन्हीं-किन्हीं के जातिवर्ग का अनुमान कर पाना सम्भव लगता है और कतिपय के जातिवर्ग का सुनिश्चित उल्लेख है। परन्तु व्यक्तिगत नामों के अभाव में तथा अतिरञ्जित संख्यात्मक सूचनाओं के कारण यह संशयजन्य प्रतीत होता है।[14] अतः इस कारण इस प्रकार के समूहों को विवेचना का विषय नहीं बनाया गया है। अनेक स्थलों पर नामरहित ब्राह्मणों की संघ-दीक्षा का विवरण प्राप्त होता है परन्तु नाम उपलब्ध न होने से एवं पुनरावृत्ति की सम्भावना अधिक होने से उन्हें भी अध्ययन क्षेत्र से बाहर रखा गया है। इस अध्ययन में उन्हें भी सम्मिलित नहीं किया गया है जिनके नाम जाति-वर्गों का निर्देश विनय, सुत्त, पिटक तथा अट्ठकथा में नहीं मिलता है।

बौद्ध साहित्य में यत्र-तत्र वर्णित भ्रमपूर्ण प्रसंगों के कारण संघ के सदस्यों का जातिगत वर्गीकरण अत्यन्त कठिनाई उत्पन्न करता है, विशेषकर

उन परिस्थितियों में जबकि उनका "अन्तर्जातीय पाणिग्रहण" हुआ हो। ऐसी स्थिति में उन्हें पितृकुल या पतिकुल से सम्बद्ध माना जाय – इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। यद्यपि विद्वानों का एक वर्ग भारतीय परम्परा में इस तथ्य को, कि विवाहोपरान्त कन्या का वर्ण पति का वर्ण हो जाता है तथा वह पिता के वर्ण की सम्बद्धता खो देती है, स्वीकार करते हुए भी भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में कभी विवाह के बाद कन्या को पति-वर्ण का मान लिया है अथवा कभी विवाह के बाद भी पितृकुल से सम्बद्ध रखा है। दुबे महोदय भी अपने वर्गीकरण में एक ओर श्रेष्ठि-पुत्री भद्दाकुण्डलकेशा का विवाह एक डकैत से होने के उपरान्त भी उसे पति के निम्नकर्मी कुल से सम्बद्ध न करते हुए पितृकुल से सम्बद्ध करने के पक्ष-पोषक हैं[15] तथा पटाचारा[16] को भी वे विवाहोपरान्त पितृकुल से सम्बद्ध करते हैं। जबकि एक स्थल पर वे निम्नकुलीन मल्लिका, जिसका विवाह प्रसेनजित के साथ हुआ था, को पतिकुल अर्थात् उच्च वर्ण में प्रतिष्ठित करने के पक्षधर दिखाई देते हैं। इसी प्रकार के अन्य सन्दर्भ में भी उन्होंने सामवती जो कि भद्दियवती के प्रमुख श्रेष्ठि की पुत्री थी, जिसका विवाह उदयन के साथ हुआ था, को किन कारणों से निम्नकुलीन विवेचित किया है, स्पष्ट नहीं होता जबकि वह पितृ एवं पति दोनों ही कुलों के अन्तर्गत उच्च वर्ण का प्रतिनिधित्व कर रही होती है।[17] अतः मैंने समरूपता को ध्यान में रखते हुए पतिकुल-प्रधान शास्त्रोक्त विधान का अनुसरण करते हुए भद्दाकुण्डलकेशा एवं पटाचारा को उच्च वर्ण का होने के बाद भी पति-कुल से सम्बद्ध करते हुए निम्न वर्ग में सम्मिलित किया है, वहीं मल्लिका के निम्नवर्गीय होने पर भी उच्च कुल में विवाह होने के कारण पति-कुल का स्वीकार किया है।[18]

बौद्ध साहित्य में कुछ ऐसे भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनमें नियमानुसार दीक्षा का उल्लेख तो नहीं मिलता परन्तु सद्धर्म में अति आकृष्ट होने के कारण स्वयं दीक्षित हो भिक्षु होने का उद्धरण मिलता है, यथा -- पुक्कुसाति[19] जैसे उद्धरणों को भी अपने अध्ययन में स्थान दिया है। परन्तु उन सन्दर्भों से बचने की चेष्ट भी की है जिनकी सद्धर्म श्रद्धा तो विवादरहित है, किन्तु उनके किसी भी साक्ष्य से त्रिशरण-गमन का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, यथा – सुनीथ एवं वस्सकार। हाँ, ऐसे विवरणों को

अवश्य संख्यात्मक परिगणन का विषय बनाया है; जिनकी दीक्षादि का उल्लेख बौद्ध परम्परा में तो नहीं मिलता किन्तु बुद्ध ने उनके अनागामीत्व की घोषणा स्वयं की है।[20] अनेक अवसरों पर कुछ लोगों का भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में उपासक एवं भिक्षु दोनों रूपों में विवरण प्राप्त होता है।[21] अतः हमने ऐसी स्थिति में उन्हें, यह मानकर कि प्रथमतः वे उपासक एवं तदनन्तर भिक्षु के रूप में दीक्षित हुए होंगे, भिक्षु एवं उपासक दोनों वर्गों में समाविष्ट किया है।

प्रसेनजित एवं लोहिच्च जैसे लोगों का भी एकाधिक बार उपासक बनने का उल्लेख मिलता है। परन्तु ऐसे समृद्ध प्रतिष्ठित लोगों के अनेक बार उपासक बनते हुए दिखाने के पीछे बुद्ध एवं सद्धर्म को अत्यधिक प्रभावी दिखाने के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं दिखाई देता है। अतः ऐसे लोगों को एक ही बार परिगणित किया गया है।

उल्लेखनीय है कि प्रारम्भिक पालि साहित्य में बौद्ध धर्म-संघ की दृष्टि से उपयोगी व्यक्तियों के स्मरण किए जाने के प्रसंग में कुछ ऐसे नाम भी हैं जिनकी वहाँ पर उन सन्दर्भों में न तो दीक्षा का उल्लेख है और न ही उपलब्ध विवरण में उनकी संघ सदस्यता का भान होता है; किन्तु ऐसे अनेक नाम वाले लोगों का अट्ठकथा साहित्य में भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया गया है, यथा – बावरि एवं उनके शिष्य आदि। अतः ऐसे नामों को भी हमने अपने सांख्यिक परिगणन में सम्मिलित किया है।

हमने ऊपर वर्णित विधि के अनुसार सांख्यिक विश्लेषण एवं परिगणन का प्रयास किया है; किन्तु कुल-गोत्र, वर्ण-जाति से अभिहित नामोल्लेखों को धर्मशास्त्रीय चतुर्धा विभाजन – बाह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सीमा-रेखा में समीकृत करना अत्यन्त दुष्कर है। सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से यह युग संक्रमण काल के रूप में उभरकर सामने आता है, जिसमें विभिन्न वर्ग अपनी महत्वाकांक्षा अथवा विवशता के कारण या अभिरूचि अथवा अनिवार्यता के कारण दूसरे वर्ग का कार्य अपना लेते हैं[22] एवं अपनी उपलब्धियों के कारण अतिशय प्रतिष्ठित बन जाते हैं। अतः हमने ऐसी

परिस्थिति में इन्हें कुछ विशिष्ट पारिभाषिक पदों में विभाजित कर विश्लेषित करने की चेष्टा की है --

(1) ब्राह्मण वर्ग,
(2) क्षत्रिय - प्रशासक वर्ग,
(3) वैश्य - गृहपति वर्ग,
(4) निम्न - अन्य वर्ग ।

(1) ब्राह्मण वर्ग - इस वर्ग के सदस्यों की पहचान असंदिग्ध है। पालि-सन्दर्भों में स्पष्ट रूप से इन्हें नामों के साथ या पृथक रूप से ब्राह्मण के रूप में वर्णित किया गया है। अतः ये बिना किसी विवाद के ब्राह्मण कहे जा सकते हैं। प्रायः इनका वर्णन राजपुरोहित, शिक्षक या जटिलों के रूप में प्राप्त है।

(2) क्षत्रिय - प्रशासक वर्ग – जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस वर्ग से हमारा आशय क्षत्रिय वर्ग से है जो कि तद्युगीन परिवेश में मुख्यतः प्रशासकीय कार्यों से सम्बद्ध था। साथ ही हमने उन उपासक-उपासिकाओं एवं भिक्षु-भिक्षुणियों को भी इस वर्ग में प्रतिनिधित्व दिया है, जो कि राज-परिवार या प्रशासकीय कार्यों से सम्बद्ध परिवारों से हैं; परन्तु ग्रामणी जैसे कतिपय निम्न प्रशासकीय स्तर वालों को इस वर्ग में स्थान न देकर निम्न अन्य वर्ग में परिगणित किया गया है। इसके अतिरिक्त उन सभासदों, पार्षदों एवं अमात्यों, जिनका ब्राह्मण के रूप में पहचानना संदिग्ध है, यथा – वीर, कालुदायी आदि को क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग में समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त विधानों के अनुरूप पितृकुल की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए गणिका एवं बिम्बिसार के संसर्ग से उत्पन्न जीवक कौमार भृत्य को भी हमने इस वर्ग में समाविष्ट किया है।

(3) वैश्य - गृहपति वर्ग – इस वर्ग में उन सभी को परिगणित किया गया है जिन्हें स्पष्ट रूप से श्रेष्ठि या वैश्य कहा गया है। तथागत की दृष्टि में वाणिज्य-व्यवसाय-उत्पादन आदि से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को वैश्य कहा जा सकता है।[23] अतः उन दीक्षितों को, जिन्हें स्पष्टतः वैश्य कहा गया है अथवा वैश्य न कहे जाने पर भी उत्पादन आदि कार्य में संलग्न रहे

हैं और जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अन्य किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं किया गया है, इस वर्ग में स्थान दिया गया है। यद्यपि प्रारम्भिक पालि साहित्य में गृहपति वर्ग का प्रयोग यत्र-तत्र वैश्य के साथ ही क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों के लिए भी मिलता है, किन्तु यह स्वतंत्र रूप से प्रायः वैश्यों के लिए ही प्रयुक्त दिखाई देता है। अतः स्वतंत्र पद वाले गृहपतियों को इसी वर्ग में स्थान दिया गया है।[24]

समकालीन परिवेश में स्वर्णकारी का व्यवसाय प्रतिष्ठा-प्राप्त था तथा ऐसे व्यक्तियों को सामाजिक सम्मान प्राप्त था। इसी कारण इस व्यवसाय से सम्बद्धं लोगों को इस वर्ग में परिगणित किया गया है। यद्यपि इस प्रकार के उद्धरण अपवादस्वरूप ही उपलब्ध हैं।

(4) निम्न - अन्य वर्ग – उपर्युक्त तीनों वर्गों में स्थान न पाए जाति वर्ग से समीकृत भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं को इस वर्ग में सम्मिलित किया गया है। इस वर्ग में सद्धर्म-दीक्षा के पूर्व हेय दृष्टि से देखे जाने वाले असम्मानित कोटि के कार्य-व्यापारों में संलग्न वैश्य, क्षत्रिय, नापित आदि को तथा निम्न-कुलीनों को रखा गया है। इसी प्रकार इसमें अनुपलब्ध जाति-वर्ण वाले अन्य तैर्थिकों को भी परिगणित किया गया है। वैसे भी जाति-वर्ण के अभाव में इन्हें उपर्युक्त पारम्परिक कोटियों में रखना सम्भव नहीं लगता है।

कतिपय विद्वानों ने इस चतुर्थ वर्ग को तीन उपवर्गों – अन्य तैर्थिक, समृद्धकुलीन, निम्नकर्मी में विभाजित करने की चेष्टा की है[25] किन्तु अन्य तैर्थिकों जैसा विभाजन यहाँ दो दृष्टियों से उपयुक्त नहीं लगता – प्रथम तो इनका सामाजिक वर्ग में अध्ययन ही सम्भव नहीं है, दूसरे अनुपलब्ध जाति-वर्ण वाले अन्य तैर्थिकों की संख्या ही इतनी गिनी-चुनी है कि इनका अलग वर्ग बनाना अपेक्षित नहीं लगता। इसी प्रकार समृद्धकुलीन उपवर्ग निर्मित करने का भी कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। चूंकि इस प्रकार के उद्धरण अपवादस्वरूप ही प्राप्त हैं। निम्नकर्मी उपवर्ग अवश्य अपने नामानुरूप सार्थक लगता है – अतः हमने अपने वर्गीकरण में भी इसे "निम्न अन्य वर्ग" के रूप में सम्मिलित किया है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि हमने अपने अध्ययन में भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के वर्ग-विभाजन में पूर्व-प्रचलित वर्गीकरण के अन्तर्गत ब्राह्मणों को प्रथम, क्षत्रिय को द्वितीय तथा वैश्य एवं शूद्र को (निम्नवर्गियों) क्रमशः तृतीय एवं चतुर्थ क्रम पर प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि यह सर्वज्ञात तथ्य है कि बुद्धकालीन चतुर्धा विभाजन में स्वयं बुद्ध ने क्षत्रियों को प्राथमिकता दी, परन्तु यहाँ पर हमारा उद्देश्य मात्र विभिन्न वर्गों के सांख्यिक परिगणन का प्रयास करना है, न कि वर्ग विभाजन की जटिलताओं से सम्बन्धित तथ्यों की विवेचना करना। इसलिए मैंने बुद्ध द्वारा दी गई व्यवस्था के स्थान पर समाज में बहुमान्य पूर्व-परम्परा को अपनाया है।

बौद्ध संघ में सम्मिलित भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के वर्गीकरण के परिप्रेक्ष्य में आने वाली कठिनाइयों का उपर्युक्त विधि से निवारण कर विश्लेषित पद्धति का सहारा लेकर उनके सांख्यिक परिगणन का प्रयास किया गया है। सुविधा की दृष्टि से सांख्यिक परिगणन से वर्गीकृत भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं को निम्नलिखित सूचियों के माध्यम से विवेचित किया जा सकता है।

17482

इस सूची में उन समस्त भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं के नामों को सम्मिलित किया गया है, जिनकी पहचान लगभग निश्चित है। सूचीगत विभाजन परम्परागत पूर्वाधारित सामाजिक चतुर्धा विभाजन के अन्तर्गत समाविष्ट है। "निम्न-अन्य वर्ग" उपवर्गों को एक साथ ही सम्मिलित किया गया है। वर्गाधारित इस सूची में नामोल्लेख के लिए वर्णमाला क्रम का अनुसरण किया गया है। सूची में वर्णित प्रत्येक नाम के सन्दर्भ में सुत्त तथा विनयपिटक में पर्याप्त विवरण उपलब्ध हैं, किन्तु कभी-कभी एक या अनेक उद्धरणों में एक ही नाम के अनेक लोगों का सन्दर्भ ज्ञात होता है, अतः प्रत्येक उद्धरण में उसका सन्दर्भ देना उचित प्रतीत नहीं होता है। जी०पी० मललसेकर महोदय के ग्रन्थ "डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स" में सभी नामों के सन्दर्भ उपलब्ध हैं, ऐसे सन्दर्भों का विवरण वहाँ से प्राप्त किया जा सकता है।

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि मललसेकर महोदय ने भी कुछ ऐसे भिक्षु-भिक्षुणी तथा उपासक-उपासिकाओं को उनके वर्णित स्वरूप में स्वीकार नहीं किया है, यथा – "पच्चनीक ब्राह्मण।" परन्तु प्राचीन सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए हमने "पच्चनीक ब्राह्मण" को उपासक के रूप में स्वीकार कर सूची में दिया है।[26] यहाँ पर प्रस्तुत नामों की सूची में एक ही नाम की अनेक बार आवृत्ति के कारण ऐसे नामों के लिए मललसेकर के कोश में प्रयुक्त अंक को कोष्ठांकित किया गया है। कोश और सूचीगत समीकरण की परस्पर भिन्नता को यथा-सन्दर्भ पाद-टिप्पणियों में सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

भिक्षु

	ब्राह्मण	प्रशासक-क्षत्रिय	वैश्य-गृहपति	निम्न-अन्य
1.	अक्कोसक भारद्वाज	अज्जुन (1)	आतुम	अचेलकस्सप (1)
2.	अग्गिक भारद्वाज (2)	अन्जन विनय	इसिदत्त (1)	अचेलकस्सप (2)
3.	अङ्गणिक भारद्वाज	अनुरूद्ध(1)	इसिदिन्न	अनूपम
4.	अङ्गुलिमाल	अभय (2)	उग्ग (6)	अरिट्ठ (1)
5.	अजित (5)	अभिभूत	एकधम्मसवणिय (1)	उपक आजीविक (1)
6.	अजिन	आनन्द	किम्बिल (2)	उसभ (1)
7.	अञ्ञाकोण्डञ्ञ	उत्तिय (2)	कुमारकस्सप (1)	उपालि (1)
8.	अधिमुत्त	उत्तिय (3)	कुल्ल	एरक
9.	अभय (1)	उपनन्द	कोकालिक (चुल्ल) (2)	कङ्खारेवत
10.	असुरिन्द भारद्वाज	उसभ (2)	गङ्गातीरिय (दत्त)	कप्पटुकर
11.	असज्जि (1)	कप्प (2)	गवम्पति (1)	कुटिविहारी (1)
12.	अहिंसक	कालुदायी	गोदत्त (1)	कुटिविहारी (2)
13.	अहिंसक	किम्बिल (1)	चक्खुपाल	चन्दन (2)
14.	आमगन्ध	खण्डसुमन	चूलपन्थक	चित्तहत्थारोहपुत्त
15.	उक्खेपकटवच्छ	गौतम (2)	चूलकाल[27]	छन्न (3)
16.	उग्गिय	गोध (2)	धनिय (1)	जम्बुक (1)
17.	उज्जय	गोधिक	नन्दक (1)	तालपुटनटगामणि

18. उत्तर (1)	जेन्त (2)	नन्दकु (2)	दासक
19. उत्तर (2)	तिस्स (13)	नन्दकुमापुत्त	धनिय (2)
20. उत्तसाल	तिस्स (14)	पुण्णक (1)	नन्दगोपालक (3)
21. उदयन	दब्बमल्लपुत्त	पुण्णमास (2)	पच्चय (1)
22. उदय (2)	देवदत्त	पूर्णजित	मागन्दिय
23. उदायी (1)	देवसभ (1)	पेसिय	मुदित
24. उपचाल	देवसभ (2)	बक्कुल	मेण्डसिर
25. उपवाण	नन्द (1)	बाहिय (दारुचीरिय)	मेलजिन
26. उपसिव	नन्दिय (1)	भद्द	यसोज
27. उपसेनवङ्गन्तपुत्त	नागसमाल (1)	भद्दजी	रामणेय्यक
28. उरूवेलकस्सप	नागित (1)	भरत	लकुण्टक भद्दिय
29. एकुद्दान (एकुदानीय)[28]	निसभ (4)	भल्लिय	वज्जित
30. कण्हदिन्न	पक्ख	भूत	विजितसेन
31. कप्प	परिपुण्णक	महाकाल[29]	विमल
32. कसि भारद्वाज	पियञ्जह	मज्झिमकाल[30]	विमलकोडञ्ञ
33. कस्सप (2)	पक्कुसाति	महापन्थक	सन्दक
34. कातियान (3)	फुस्स (2)	मातंगपुत्त	संघरक्खित
35. कुण्डधान	ब्रह्मदत्त (4)	मिगजाल	सन्धित
36. कुण्डल (कुलकुण्डल)	भगु (2)	यस	सब्बकामी
37. कोकालिक (महा) (1)	भद्दिय (2)	रट्ठपाल	सभियकच्चान
38. कोट्ठित (महा)	भूमिज	रमणीयविहारिन	सरभ
39. कोसिय	महाकप्पिन	राजदत्त	साति
40. खितक (1)	मालुक्यपुत्त	वज्जिपुत्त	सामञ्ञकानि
41. खितक (2)	मेघिय	विमल	सुगन्ध
42. खुज्जशोभित	यसदत्त	संग्रामजी	सुदत्त
43. गयकस्सप	रक्खित (1)	समिद्धि	सुनीत
44. गह्वरतीरिय	राहुल	सिगालकपिता	सुप्पिय
45. गिरिमानन्द	लोमसकङ्गिय[31]	सिरिमा	सुभद्द
46. गोतम (1)	वज्जिपुत्त (1)	सिरिमित्त	सुमंगल (7)
47. गोतम (3)	वज्जिपुत्त (2)	सिरिवड्ढ (9)	सुसीम (6)
48. चाल	वड्ढ	सुन्दरसमुद्द	सेनिय (1)

49. चित्तक	वड्ढमान	सुदन्नकलन्दपुत्त	कुक्कुरवतिक (सोपाक) (1)
50. चूलक	वल्लिय (1)	सुबाहु	सोपाक (2)
51. चूलगवच्छ	वसभ (5)	सुभूति	हत्थारोहपुत्त
52. जय भारद्वाज	विशाखपांचाल (2)	सुवण्णकार	
53. जातुकण्णी	वीर (1)	सोणकुटिकण्ण	
54. जेन्त (3)	सम्भूत (3)	सोणकोलिवीस	
55. जोतिदास	सिलवा	सोणपोटरीयपुत्त	
56. तिस्स (7)	सीवलि (2)	सोणक (1)	
57. तिस्स मेत्तेय्य	सीह (2)		
58. तेकुल	सुनखत		
59. तेलकानि	सुबाहु (2)		
60. तोदेय्य	सुभूत		
61. पासक (2)	सेतुच्च		
62. धम्मसव	हत्थक (2)		
63. धम्मसवपिता	हेरञ्ञकानि		
64. धम्मिक (1)			
65. धोतक			
66. नदीकस्सप			
67. नन्द (2)			
68. नवक भारद्वाज			
69. नालक			
70. निग्रोध			
71. नीत			
72. न्हातक[32]			
73. पविट्ठ			
74. पस्सिक			
75. पारासरिय [33]			
76. पिङ्गिय (2)			
77. पिण्डोल भारद्वाज			

78. पुण्णक (2)
79. पूर्णगन्तानिपुत्त
80. पुण्णमास (1)
81. पीसाल
82. बहुधीति
83. बावरि
84. बिलङ्गिक भारद्वाज
85. बेलट्ठानिक
86. ब्रह्मदेव
87. ब्रह्मालि
88. भद्दिय
89. भद्रावुध
90. भद्दिय
91. भद्रावुध
92. भारद्वाज (2)
93. भारद्वाज (3)
94. भारद्वाज (4)
95. मलितवम्भ
96. महाकच्चान
97. महाकस्सप
98. महागवच्छ
99. महाचुन्द
100. महानाग (1)
101. महानाम (1)
102. महानाम (2)
103. महामोग्गलान
104. मागन्दिय (1)
105. माणव
106. मिगसिर
107. मेत्तजी
108. मेत्तगू
109. मोघराज
110. यमेलु
111. यश काकण्डपुत्त
112. राध (4)
113. रेवत (खदिरविनय)
114. वक्कालि (1)
115. वङ्गीस
116. वच्छगोत्त (1)
117. वच्छपाल
118. वनवच्छ (1)
119. वनवच्छ (2)
120. वप्प
121. वल्लिय (2)
122. वल्लिय (3)
123. वारण
124. विजय (6)
125. विमल (3)
126. संकिच्च (1)
127. सञ्जय (4)
128. सप्पदास
129. सब्बक
130. सब्बमित्त (1)
131. समीगुत्त
132. सरभंग (2)
133. सागत (2)
134. सारमत्तिय
135. सामिदत्त
136. सारिपुत्त (1)
137. सिरिमण्ड

138. सिरिवड्ढ (10)
139. सीवक (4)
140. सीवक (5)
141. सुजात (9)
142. सुद्धिक भारद्वाज
143. सुनाग
144. सुन्दरिक भारद्वाज
145. सुभद्द (6)
146. सुमन (7)
147. सुयाम (4)
148. सुराध
149. सुसारद
150. सुहेमन्त
151. सोभित (8)
152. सेनक (6)
153. सोमभित्त
154. सैल (2)
155. हारीत (3)
156. हारीत (4)
157. हेमक

भिक्षुणी

	ब्राह्मण	क्षत्रिय-प्रशासक	वैश्य-गृहपति	निम्न एवं अन्य
1.	उत्तमा (2)	अभिरूपा नन्दा	अनोपमा	अड्ढकासी
2.	उपचाला (1)	उत्तरा (1)	उत्तमा (1)	अभयमाता
3.	गुत्ता (1)	उत्तरा (2)	उपलवण्णा	अभया
4.	चन्दा (8)	उपसमा	किसा गौतमी (1)[34]	अम्बपालि
5.	चाला (1)	उब्बिरी	कुमारकस्सपमाता	चापा
6.	थुलनन्दा	खेमा (1)	धनियपत्नी	चित्ता
7.	दन्तिका	जेन्ता	धमदिन्ना (3)	चित्ता
8.	नन्दवती	तिस्सा (2)	पुण्णा (2)	धम्मा
9.	नन्दा (5)	तिस्सा (3)	विजया	पटाचारा (1)
10.	नन्दुत्तरा	धीरा	सिगालकमाता	पुण्णा
11.	भद्दाकपिलानी	धीरा	सुक्का (1)	भद्दाकुण्डलकेशा
12.	मागन्दियपत्नी[35]	नन्दा (6)	सुजाता (10)	विमला
13.	मित्तकाली	भद्दाकातियानी[36]	सुभाकम्मारधीता	सामा
14.	मुत्ता (1)	भद्रा	-	सूचिमुखी
15.	मुत्ता (2)	महाप्रजापति गौतमी	-	सुमंगलमाता
16.	मेत्तिका	मित्ता (1)		

17.	रोहिणी (1)	वड्ढमाता[37]
18.	सकुला (1)	वासेट्ठी (2)
19.	सिसुपचाला	विशाखा (4)
20.	सुन्दरी (3)	संघा (1)
21.	सुन्दरी नन्दा (1)	सामा (5)[38]
22.	सुभा जीवकम्बवनिका	सीहा
23.	सोमा (1)	सुमना (6)
24.	–	सुमना (7)
25.	सुमेधा (1)	
26.	सेला (2)	
27.	सोणा (5)	

उपासिका

1.	खोमदुस्सक ब्राह्मणी गृहपतिका	मल्लिका (1)	यसपत्नी	सिरिमा (12)
2.	धानन्जानी	कोली (2)	उत्तरानन्दमाता	अम्बपालि
3.	मिगसाला	कालिगोधा	कातियानी (1)	काणा
4.			चन्द्रप्रभा	
5.	वेरहच्चानि	खेमा (1)	नकुलमाता	खुज्जुत्तरा
6.	सकुला (1)	चुन्दी	पदुमा (7)	विमला (1)
7.		सकुला (2)	विसाखा (5)	
8.		सामावती	सुजाता (6)	
9.			सुमना	
10.		सुप्पवासा (कोलियधीता)		सुप्पिया
11.		सुमना (6)		
12.			सोणायमाता	
13.		सोमा (2)		

उपासक

	ब्राह्मण	क्षत्रिय-प्रशासक	वैश्य-गृहपति	निम्न अन्य
1.	अग्गिक भारद्वाज (1)	अजातशत्रु	अनाथपिण्डक	अस्सगामणि
2.	अभिमान अकड़[39]	अजित (4)	सूर अम्बट्ठ	असिबन्धकगामणि
3.	अस्सलायन	अभय राजकुमार (2)	उग्गवैसालिक	कण्डरक
4.	आरामदण्ड	अवन्तिपुत्त	उग्गहत्थिगामक	कुण्डलिय
5.	इसिदत्त (2)	उदयन	उग्ग (6)	घुड़सवारगामणि
6.	उग्गतसरीर	ओट्ठदलिच्छवि	उपालि (4)	चण्डगामणि
7.	उण्णाभ ब्राह्मण	चण्डपज्जोत	कल्याणभत्तिक[42]	चुन्दकुमारपुत्त
8.	उत्तरमाणव	जीवक[41]	कालक (1)	तिम्बक
9.	उदय (1)	दीघजानु	कुक्कुट[43]	पञ्चकाड़थपति
10.	एसुकारि (1)	नन्दिय (2)	घोषित[44]	पाटलिगामणि
11.	कट्ठहार[40]	पूर्ण	चित्त (1)	पुण्णकोलियपुत्त
12.	कण्डरायन	पसेनदी	तपुस्स (1)	पोतलिय (2)
13.	कसिभारद्वाज	पायासिराजञ्ञ	तवकण्णिक	मोलिय
14.	कापथिक (कापठिक)	बिम्बिसार	दसमगृहपति	योधाजीवगामणि
15.	कारणपालि	बोधिराजकुमार	दीघावु (2)	रसियगामणि
16.	कूटदन्त	भद्दिय	नकुलपिता	वेखनस्स
17.	केणियजटिल	महानाम (3)	पावरिक[45]	सच्चक
18.	गणकमोग्गलान	महालि (1)	पुक्कुस (3)	हत्थिसारगामणि
19.	घोटमुख	रोजमल्ल	पोतलिय (1)	
20.	जाणुस्सोणि	वड्ढ लिच्छवि	पेस्स	
21.	झगड़ालु ब्राह्मण[46]	वप्प (2)	बेलट्ठकच्चान	
22.	तिकण्ण	सरकानि शाक्य	भल्लिक (1)	
23.	तोदेय्य (1)	सीह (1)	मानदिण्ण	
24.	दीघनख	हत्थक आलवक	मेण्डक	
25.	देवहित		यसपिता	
26.	डोण		राजगृहसेट्ठी	

27. नवकम्मिक	वज्जियमाहित
28. पच्चनीक[47]	विसाख (1)
29. पिंगलकोच्छ	सन्धान
30. पिंगियानी (1)	सिगाल
31. पुराण (2)	सिरिवड्ढ
32. पोक्खरसाति	सुप्पिय (4)
33. पोट्ठपाद (1)	हालिद्दिकानि
34. ब्रह्मायु	
35. भारद्वाज	
36. भारद्वाज (4)	
37. भिक्खक[48]	
38. महासाल	
39. मातुपोसक	
40. मानत्थद्ध	
41. लुखयाशरण[49]	
42. लोकायतिक	
43. लोहिच्च (1)	
44. लोहिच्च (2)	
45. वच्छगोत्त (2)	
46. वासेट्ठ (4)	
47. वेरञ्ज	
48. सङ्गारव (1)	
49. सङ्गारव (2)	
50. सुभमाणवक (2)	
51. सोणदण्ड	

सारणी प्रथम (समग्र परिगणित सदस्य)

क्रम	वर्ग	भिक्षु	भिक्षुणी	उपासक	उपासिका	कुल योग
1.	ब्राह्मण	156	23	51	05	235
2.	क्षत्रिय-प्रशासक	64	27	24	11	126
3.	वैश्य-गृहपति	56	13	33	10	112
4.	निम्न-अन्य	51	15	18	05	089
	कुल योग	327	78	126	31	562

सारणी द्वितीय (स्थान-क्रम)

क्रम	भिक्षु-वर्ग	भिक्षुणी-वर्ग	उपासक-वर्ग	उपासिका-वर्ग
प्रथम	ब्राह्मण	क्षत्रिय-प्रशासक	ब्राह्मण	क्षत्रिय-प्रशासक
द्वितीय	क्षत्रिय-प्रशासक	ब्राह्मण	वैश्य-गृहपति	वैश्य-गृहपति
तृतीय	वैश्य-गृहपति	निम्न-अन्य	क्षत्रिय-प्रशासक	ब्राह्मण एवं निम्न-अन्य
चतुर्थ	निम्न-अन्य	वैश्य-गृहपति	निम्न-अन्य	–

सुत्त तथा विनयपिटक में सुरक्षित भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं की सूचनाओं के आधार पर 559 लोगों का प्रायः निर्विवाद विवरण प्राप्त होता है जिनमें 325 भिक्षु, 77 भिक्षुणियाँ, 126 उपासक एवं 31 उपासिकाएं सम्मिलित हैं।[50] उपर्युक्त भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं को वर्गानुसार तालिका में समायोजित किया गया है तथा पूर्वोल्लिखित परिगणनात्मक शैली के अन्तर्गत सारणी में निबद्ध किया गया है।

सारणी के सामान्य अध्ययन से स्पष्ट है कि समस्त योग की लगभग आधी संख्या ब्राह्मण भिक्षुओं की प्रधानता को प्रदर्शित करती है; वहीं क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा निम्न-अन्य वर्ग क्रमशः द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ स्थान पर हैं। उल्लेखनीय है; कि प्रथम एवं द्वितीय स्थान पर प्रतिष्ठित क्षत्रिय-प्रशासक एवं वैश्य-गृहपति वर्ग के भिक्षुओं का संयुक्त योग भी ब्राह्मण भिक्षुओं की संख्या के निकट नहीं पहुँचता है।

भिक्षु-भिक्षुणियों की उपर्युक्त सारणी से प्रायः सुस्पष्ट है कि भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियाँ अत्यल्प और चौथाई भी नहीं हैं। इनमें भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों के संख्यागत अध्ययन से क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग का इनमें आधिक्य दिखाई देता है और ब्राह्मण एवं अन्य-निम्न वर्ग की भिक्षुणियों को क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय स्थान पर रखा जा सकता है।

रोचक है कि भिक्षुणी वर्ग में निम्न-अन्य वर्ग तृतीय स्थान प्राप्त करता है, जबकि तत्कालीन प्रतिष्ठित श्रेष्ठि-गृहपति वर्ग का स्थान अन्तिम है। भिक्षु वर्ग के समान ही उपासक वर्ग में ब्राह्मण अग्रगण्य हैं, वैश्य-गृहपति तथा क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय स्थान पर हैं। इसी प्रकार भिक्षुणियों के समान ही उपासकों की तुलना में उपासिकाओं की संख्या अत्यल्प एवं चौथाई भी नहीं है। किन्तु उपासिका वर्ग में क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग का प्राधान्य है; वहीं ब्राह्मण एवं निम्न-अन्य वर्ग की उपासिकाओं की संख्या बराबर होने के कारण उन्हें संयुक्त रूप से तृतीय स्थान पर रखा जा सकता है।

सारणी क्रमांक 1 व 2 के सामान्य सर्वेक्षण से यह तथ्य उभरकर आता है कि भिक्षु एवं उपासक वर्ग में ब्राह्मणों तथा भिक्षुणी तथा उपासिका वर्ग में क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग की प्रमुखता है जबकि वैश्य-गृहपतियों का स्थान द्वितीय है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि भिक्षुणी वर्ग में वैश्य-गृहपति वर्ग को अन्तिम स्थान प्राप्त होता है तथा निम्न-अन्य वर्ग तृतीय स्थान पर प्रतिष्ठित है।[51]

संघ-दीक्षित स्त्री-पुरूषों के सांख्यिक विवेचन से पुरूषों की संख्या 451 है और स्त्रियों की 108 विदित है। इस प्रकार स्पष्ट ही पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियाँ चौथाई से भी कम है। यही बात भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों तथा उपासक एवं उपासिकाओं के भी तुलनात्मक अध्ययन से परिपुष्ट है।

स्त्रियों की यह सांख्यिक न्यूनता बौद्ध धर्म के गृहत्यागी स्वरूप को देखते हुए अस्वाभाविक भी नहीं लगती। तत्कालीन परिस्थितियों में घर-बार छोड़कर निवृत्तिमार्गी परम्परा का पालन करना सम्भवतः स्त्रियों के लिए समाज-अनुमत नहीं था। यद्यपि इस प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्धों का

स्पष्ट स्वरूप तो दृष्टिगोचर नहीं होता है तथापि यह अनुमान्य है कि महिलाओं पर तद्युगीन परिवेश में अन्तर्निहित परम्परागत बन्धन अवश्य थे। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह विचार कि पति की आज्ञा से स्त्रियों के लिए भिक्षुणी बनना सहज था[52] पर गृहस्थ रहते हुए उपासिका बनना कदाचित् कठिन था, उचित प्रतीत होता है और यही कारण है कि उपासिकाओं में ब्राह्मण वर्ग की न्यूनता लक्षित होती है। ब्राह्मणों की तुलना में भले ही क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति वर्ग की महिलाओं की संख्या अधिक हो तथापि महिलाओं के प्रतिनिधित्व को देखते हुए प्रायः नगण्य लगती है।

यह अत्यन्त रोचक है कि जिस ब्राह्मणवादी जाति-व्यवस्था का विरोध स्वयं बुद्ध ने किया था उसी बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक विकास में पुरूष वर्ग के अन्तर्गत ब्राह्मणों की प्रधान भूमिका विशिष्ट रूप से महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म-दीक्षित सदस्यों के सांख्यिक परिगणन और विश्लेषणात्मक अध्ययन से ब्राह्मणों का वर्चस्व सुज्ञात है। अतः यह सामान्य अभिमत कि बौद्ध धर्म क्षत्रिय तथा वैश्य-गृहपति वर्ग द्वारा पोषित ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन था, सत्य प्रतीत नहीं होता।[53] हाँ, यह अवश्य है कि तत्कालीन परिवेश में इन दोनों वर्गों का विशिष्ट महत्त्व था। बौद्ध धर्म की आर्थिक समृद्धि और तदनुरूप नियमों के संशोधन-परिवर्धन में ये सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुए।

संदर्भ-सूची

1. वि०चु०, 9.14.
2. तुलनीय, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 65. यद्यपि पूर्व अध्याय में मैंने व्यावहारिक रूप से संघ-स्थापना को यश, उसके परिजनों, मित्रों आदि की संघ-सदस्यता से सम्बद्ध किया है; किन्तु सैद्धान्तिक रूप से उपर्युक्त मत को भी स्वीकार किया जा सकता है।
3. वि०म०, 1.7.10 और 1.8.
4. देखें, क्रमशः वि०म०, 1.15, 1.20; 19 और अं०नि०, 1.14 (घ, छ)।
5. तुलनीय, सं०नि०, "सारिपुत्त सुत्त" एवं "एकपुत्तक सुत्त।"
6. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन एवं सिस्टर्स का भूमिका भाग, गोखले, बी०जी०, ज०इ०हि०, जि० 43 तथा ज०इ०हि० जि० 48, पृष्ठ 51-61, स्ट०हि०बु०, पृष्ठ 67-76.

7. डियांग, जे० डबल्यू०, ज०इ०बु०स्ट०, जि० 12, पृष्ठ 45.
8. दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, संघ की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि वाला अध्याय।
9. "वीतशोक", "तेकिच्चकारि" जैसे भिक्षुओं तथा "इसिदासी" जैसी भिक्षुणियों की स्पष्ट पहचान एवं गाथा सुरक्षित होने के बाद भी परिगणन से बाहर रखा गया है क्योंकि प्राचीन साक्ष्यों से इनके नाम समर्थित नहीं हैं। विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें – थेर, गाथा 537-46, श्रीमती रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन गाथा, 145 एवं 211, इसी में अशोक के भाई तेकिच्चकारि को भी सम्मिलित कर लिया गया है। मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जि० 1, पृष्ठ 1023.
10. इस श्रेणी में सारिपुत्र-मौदगल्यायन तथा उरूवेला के जटिल काश्यप बन्धुओं को रखा जा सकता है।
11. श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स, भूमिका वाला भाग, पृष्ठ 22 एवं आगे, गाथा, 92.
12. सारिपुत्र-मौदगल्यायन को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि ये संजय परिव्राजक के शिष्य थे तथा सद्धर्म से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म-संघ के सदस्य बने थे।
13. तुलनीय, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 286.
14. जटिल काश्यप बन्धुओं के एक हजार शिष्यों की संघ-दीक्षा, सारिपुत्र-मौदगल्यायन के 250 अनुयायियों की संघ-दीक्षा तथा खोमदुस्स, नगरविन्देय्य आदि ग्रामों के समस्त ब्राह्मणों का उपासक बनाना एवं शैल ब्राह्मण के शिष्यों की संघ-दीक्षा को इसी क्रम में रखा जा सकता है।
15. देखें, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 151; थेरी, पद्य 107 और आगे, श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 46, मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जि० 2, पृष्ठ 355-57.
16. - वही - पृष्ठ 151, थेरी, पद्य 112 और आगे, श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 47. (पटाचारा श्रावस्ती के श्रेष्ठि की पुत्री थी। उसके पिता अपने समकक्ष कुल में उसका विवाह करना चाहते थे, किन्तु उसने अपने प्रेमी नौकर के साथ भागकर विवाह कर लिया था। हमने उसके इस निम्न कर्म को देखते हुए उसे निम्नकर्मी अन्य वर्ग में सम्मिलित किया। विस्तृत विवरण के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी भाग 2, पृष्ठ 112 और आगे)।

17. - वही- पृष्ठ 151.
18. उल्लेखनीय है मल्लिका का विवाह कोशलराज प्रसेनजित के साथ हुआ था।
19. म०नि०, "धातु विभंग सुत्त"; मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी, जि० 2, पृष्ठ 214-16.
20. ब्रह्मायु ब्राह्मण की किसी भी प्राचीन साक्ष्य से संघ-दीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु इन्हें परिगणन में सम्मिलित किया गया है क्योंकि स्वयं बुद्ध ने इनके अनागामित्व की घोषणा की थी। देखें – म०नि० "ब्रह्मायु सुत्त", श्रीमती रीस डेविड्स ने ब्रेद्रेन, गाथा, गाथा 43 में ब्रह्मायु की सद्धर्म-श्रद्धा का ससन्दर्भ उल्लेख किया है।
21. सुत्त निपात में कसि भारद्वाज ब्राह्मण की संघ-दीक्षा का उल्लेख है जबकि संयुक्त निकाय में प्राथमिक सन्दर्भ समान होते हुए भी उपासक होने का उल्लेख मिलता है। देखें - सं०नि० "कसि भारद्वाज सुत्त", सु०नि० "कसि भारद्वाज सुत्त।"
22. फिक, रिचर्ड, दी सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, पृष्ठ 222.
23. 1. दी०नि०, "आगञ्ञ सुत्त।"
24. तद्युगीन सामाजिक व्यवस्था, कार्य-व्यापार आदि के लिए तथा वैश्य गृहपति के समीकरण के लिए देखें, फिक रिचर्ड, दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, रीस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, वागले, नरेन्द्र, सोसाइटी एट दि टाइम ऑव बुद्ध।
25. देखें – दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 153.
26. सं०नि०, 7.16 (पच्चनीक सुत्त)।
27. थेरगाथा (हि०अ०), पृष्ठ 29; तुलनीय, उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 263, जहाँ इसे महाकाल एवं मज्झिमकाल का भाई कहा गया है।
28. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन गाथा, पृष्ठ 68-69 में इसे पार्षद परिवार का सदस्य बताया गया है।
29. थेरगाथा (हि०अ०), पृष्ठ 29, तुलनीय, उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 263, जहाँ चूलकाल, महाकाल एवं मज्झिमकाल को भाई कहा गया है।
30. - वही -

31. मललसेकर महोदय ने इसके लोमस वङ्गीस होने की सम्भावना व्यक्त की है। देखें - डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जिल्द 2, पृष्ठ 791।
32. दृष्टव्य - रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 220, पृष्ठ 220.
33. दृष्टव्य - रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 116, पृष्ठ 103 का पारापरिय यही है।
34. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 25, पाद टिप्पणी, संख्या 53 में इसे वैश्य-वंशीय कहा गया है।
35. श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स तथा जिल्द 2, पृष्ठ 594 मागन्दिय पत्नी।
36. अ०नि०, 1.14 (उ०, 11), महाअभिज्ञा प्राप्त करने वाली भिक्षुणियों में प्रथम कहा गया है।
37. श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 62, पृष्ठ 103.
38. दृष्टव्य - श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 29, पृष्ठ 34-35.
39. सं०नि० (हि०अ०), मानत्थद्ध सुत्त, पृष्ठ 142 और आगे।
40. सं०नि०,1, पृष्ठ 165.
41. यह सामान्यतः स्वीकृत तथ्य है कि जीवक कौमारभृत्य बिम्बिसार का गणिका-से उत्पन्न पुत्र था। अतः हमने अपने वर्गीकरण में भारतीय शास्त्रोक्त पद्धति का अनुसरण करते हुए उसे पितृ-कुल से सम्बद्ध कर क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग में सम्मिलित किया है।
42. देखें, वि०पि० (हि०अ०), पृष्ठ 397, वि०चु०, 4.4.6, वि०टे०, जि० 3, पृष्ठ 10, और उसकी पाद टिप्पणी।

43,44,45. कुछ विद्वानों के अनुसार उक्त तीनों श्रेष्ठियों के नाम प्राचीन पालि साहित्य से समर्थित नहीं हैं। यद्यपि परवर्ती बौद्ध ग्रन्थों में इनका उल्लेख अवश्य है परन्तु सं०नि०, घोषित सुत्त, 35.129 में घोषिताराम विहार में घोषित का आनन्द के पास दर्शन उवं उपदेश-श्रवण हेतु जाने का निर्देश प्राप्त होता है, अतः पावरिक और कुक्कुट के घोषितके समसामयिक होने के कारण इन्हें अध्ययन में सम्मिलित किया है।

46. सं०नि० (हि०अ०), पच्चनीक सुत्त, पृष्ठ 143, 1,3 नामों के सन्दर्भ मे ऐसा लगता है कि इन नामों का प्रयोग स्वभावगत विशेषणों के रूप में हुआ है परन्तु इनके स्पष्ट रूप से उपासक बनने का निर्देश प्राप्त होने के कारण हमने इन्हें अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है।
47. सं०नि०, 7.16 (पच्चनीक सुत्त)।
48. वही, 7.20 (भिक्खक सुत्त) जहाँ इसे स्पष्ट रूप से बौद्ध उपासक कहा गया है।

49. सं०नि०, 1, पृष्ठ 165.
50. देखें - सारणी क्रमांक 1.
51. देखें - सारणी क्रमांक 1 व 2.
52. तुलनीय, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 154.
53. तुलनीय, कौशाम्बी, डी०डी०, प्राचीन भारत, पृष्ठ 67-68, मललसेकर, जी०पी० एवं जयतिलक, के०एन०,बुद्धिज़्म एण्ड दी रेस क्वेश्चन्स, पृष्ठ 56-59.

चतुर्थ अध्याय

संघ के अग्रगण्य सदस्यों का परिचयात्मक अध्ययन

बौद्ध साहित्य के सामान्य अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित एवं प्रभाव प्राप्त धर्म और संगठित संघ के सदस्यों ने न केवल अल्प समय में ख्याति प्राप्त की अपितु लोगों को भव-बाधा के बन्धनों से मुक्त कराने के उद्देश्य से समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचने का यथेष्ट उद्योग किया। स्पष्ट ही गौतम बुद्ध का प्रत्येक स्थान पर पहुँचना तथा इस प्रकार का कार्य बिना किसी सामूहिक उत्तरदायित्व के सम्भव भी नहीं लगता। अतः बुद्ध के अनेक विशिष्ट शिष्यों और बन रहे अनुयायियों के अनुकरण की प्रवृत्ति ने इस प्रकार के कठिन कार्य को सरल बनाने में सहायता प्रदान की।

तत्कालीन परिवेश में स्वयं बुद्ध की ख्याति से धर्म-संघ के प्रति सहज आकर्षण के फलस्वरूप समाज के विविध जाति-वर्गों के लोग संघ-दीक्षित हुए एवं उन्होंने धर्म के प्रचार-प्रसार में बहुविध सहयोग किया। बुद्ध उनके सचेतक थे, मार्गदर्शक थे एवं उनके शिष्यों-अनुयायियों ने उन्हीं के अनुरूप कार्य किया। संघ की आर्थिक, सांख्यिक व सैद्धान्तिक वृद्धि-समृद्धि और प्रचार-प्रसार में अनेक लोगों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही। अतः जिन लोगों ने धर्म-संघ के प्रभाव-स्थापन में सहयोग किया, उनके परिचयात्मक अध्ययन के प्रति आकर्षण सहज स्वाभाविक है। सौभाग्यवश स्वयं गौतम बुद्ध द्वारा वरेण्य भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के रूप में 77 सदस्यों का उनके विविध क्षेत्रों में विशिष्ट योगदान के लिए स्मरण किया गया है।[1]

वहाँ उनके जाति-वर्ग का समीकरण तो नहीं है; परन्तु भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने इनकी जाति-वर्ग की पहचान का सफल प्रयास किया है और उसे इस अध्ययन के सहायक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वैसे भी यह शोध-प्रबन्ध ही "बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक विकास में विभिन्न वर्गों का योगदान" की विश्लेषणा है। यद्यपि वरेण्य भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं का समग्र अध्ययन एक स्वतंत्र शोध का विषय हो सकता है, ऐसी स्थिति में हमने उन्हीं भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं को अध्ययन का विषय बनाया है; जिनका बौद्ध धर्म-संघ के बहुपक्षीय विकास में विशिष्ट स्थान रहा है, साथ ही बौद्ध संघ के कुछ ऐसे सदस्य भी हैं जिनका वरेण्यों की सूची में तो स्थान नहीं है परन्तु उनके बौद्ध धर्म-संघ के प्रति विशिष्ट योगदान के कारण अध्ययन में समाविष्ट कर लिया गया है, यथा – सोणदण्ड, कूटदन्त, पौष्करसादि, धानन्जानि ब्राह्मणी तथा देवदत्त, यश, आम्रपालि, आदि। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यहाँ पूर्व वर्ण-क्रमानुसार ही इनका अध्ययन प्रासंगिक होगा।

भिक्षु : ब्राह्मण वर्ग

(1) सारिपुत्र

प्राचीन स्रोतों से विदित है कि ब्राह्मण सारिपुत्र संजय परिव्राजक के शिष्य थे, जिन्हें प्रायः संजय बेलट्ठिपुत्र से समीकृत किया जाता है।[2] परवर्ती ग्रन्थों से इनके माता-पिता का नाम क्रमशः रूपसारि तथा वगन्त ज्ञात होता है।[3] कतिपय सन्दर्भों से माता के नाम पर ही इनका यह सारिपुत्र नाम व्युत्पन्न माना जाता है। यह इस दृष्टि से भी उचित लगता है क्योंकि इनका एक अन्य नाम उपतिष्य भी मिलता है, किन्तु लगता है कि मातृपोषक होने के कारण ही ये सारिपुत्र (सारिपुत्त) के नाम से विख्यात हुए। इनके नालक ग्राम-निवासी होने का अनुमान किया जाता है।

ये गौतम के शिष्य अस्सजी के वचनों से प्रभावित हो सद्धर्म की ओर आकृष्ट हुए और प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की। तदनन्तर अल्प समय में बुद्ध के अनन्तर सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं श्रद्धा-प्राप्त बौद्ध अर्हत के रूप

में प्रसिद्ध हुए। यही नहीं, स्वयं गौतम ने इनके ज्ञान से प्रभावित होकर इन्हें "धर्म-सेनापति" नियुक्त किया था।[4] प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्गमय में सारिपुत्र की विद्वत्ता से परिपूर्ण अनेक सुत्तों का उल्लेख मिलता है। वे न केवल सामान्य भिक्षुओं को उपदेश देते हैं, वरन् "आयुष्मान महाकोट्ठित" जैसे प्रतिष्ठा-प्राप्त बौद्ध भिक्षु भी उनसे उपदेश देने का आग्रह करते हैं।[5] अनेक अवसरों पर स्वयँ गौतम बुद्ध शारीरिक व्याधि उत्पन्न होने पर अपने उपदेश को पूर्ण करने का दायित्व सौंपते हैं[6] तथा भिक्षुओं के सम्मुख उनकी बहुविध प्रशंसा करते हैं।[7]

इसी प्रकार एक बार बुद्ध ने सारिपुत्र के सम्बन्ध में कहा था कि "जैसे राजा का अग्र पुत्र पिता द्वारा प्रवर्तित चक्र का सम्यक् प्रवर्तन करते हैं उसी प्रकार तुम मेरे अनुत्तर धर्म का सम्यक् प्रवर्तन करते हो।"[8] इन्हें भिक्षुओं में अनेक बार पूज्य कहा गया है।[9] यही नहीं, भिक्षुओं द्वारा अन्यत्र कहीं जाने पर बुद्ध भिक्षुओं को सारिपुत्र से अनुमति प्राप्त करने का निर्देश देते हैं।[10] इन सन्दर्भों से ऐसा लगता है कि सारिपुत्र गौतम बुद्ध के वास्तविक उत्तराधिकारी थे और इसीलिए शायद उन्हें बुद्ध का "औरस पुत्र" भी कहा गया है।[11]

एक अन्य अवसर पर कुछ बौद्ध भिक्षुओं द्वारा उन्हें शयनासन आदि न देने तथा पापेच्छु कहने पर बुद्ध द्वारा उन भिक्षुओं को धिक्कारना तथा संघ-स्वामित्व की पाँच वस्तुओं के सन्दर्भ में अविभाज्य सम्बन्धी नियम बनाना सारिपुत्र की प्रतिष्ठा का सूचक है।[12] यही नहीं, "उक्कचेल सुत्त"[13] को बुद्ध द्वारा सारिपुत्र की अतिशय प्रशंसा के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। स्वयं सारिपुत्र को गौतम बुद्ध के पुत्र राहुल को प्रव्रजित करने का गौरव भी प्राप्त है।[14] इसके अतिरिक्त "अनाथपिण्डकोवाद, संगीति परियाय, महाराहुलोवाद, अनङ्गण" जैसे सुत्तों का उपदेश भी सारिपुत्र ने ही दिया था। सारिपुत्र ने अपने जीवनकाल में यत्र-तत्र भ्रमण कर सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। संघ-दीक्षित समकालीन सदस्यों में शायद ही कोई ऐसा हो; जिसने सारिपुत्र से ज्ञान-लाभ न प्राप्त किया हो। रोचक है कि अशोक द्वारा भाब्रू-प्रज्ञापन में[15] भी भिक्षु-भिक्षुणी तथा उपासक-उपासिकाओं के अध्ययन तथा उसके अनुरूप आचरण के

लिए अनुदिष्ट सुत्तों एवं ग्रन्थों में "उपतिस पसिन" (उपतिष्य प्रश्न) भी एक है जिसे "सुत्तनिपात" के "सारिपुत्र सुत्त" से समीकृत करने की चेष्टा की जाती है और सारिपुत्र के उपतिष्य नाम के के कारण यह युक्तिसंगत भी दिखाई देता है। अतः सैकड़ों वर्ष बाद सारिपुत्र के इस उपदेश को स्मरण किया जाना भी अपने-आप में सारिपुत्र की महत्ता का एवं बौद्ध संघ में उनकी विशिष्टता का द्योतक है।

इस प्रकार चवालीस साल तक भिक्षु-जीवन व्यतीत करने के पश्चात् सारिपुत्र निर्वाण को प्राप्त हुए। दृष्टव्य है कि सारिपुत्र की मृत्यु बुद्ध से पूर्व हुई थी तथा बुद्ध ने उनकी तुलना वृक्ष की सबसे बड़ी डाली से की थी।[16]

(2) मौद्गल्यायन

कोलितग्राम (कोटिग्राम) निवासी मौद्गल्यायन का भी बौद्ध भिक्षुओं में विशिष्ट स्थान लक्षित होता है। प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में इनके नाम का उल्लेख प्रायः सारिपुत्र के साथ मिलता है। इनकी माता का नाम मोग्गली था।[17] इस प्रकार लगता है कि इनका नाम मोग्गलान (मौद्गल्यायन) भी सारिपुत्र के समान ही मातृनाम से व्युत्पन्न था तथा ये अपने ग्राम-नाम कोलित के नाम से भी जाने जाते थे। सारिपुत्र के साथ ही ये संघ-दीक्षित हुए थे तथा संजय परिव्राजक के शिष्य थे।[18] ये गौतम बुद्ध द्वारा स्थापित सद्धर्म के सारिपुत्र-पश्चात् दूसरे अग्र श्रावक थे। आध्यात्मिक साधना एवं पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान में भी इनका अतिशय महत्त्व परिलक्षित होता है।

यद्यपि अनेक प्रसंगों में इनका सारिपुत्र से प्रायः सादृश्य लगता है और उनके साथ ही ये अनेक शैक्षणिक कार्यों का सम्पादन करते भी दिखाई देते हैं, किन्तु ये कतिपय कार्य-व्यवसायों में सारिपुत्र से भिन्न अपना अलग महत्त्व रखते हैं। ये ऋद्धिमानों में अग्रगण्य थे।[19] इनके द्वारा अनेकदा किए गए प्रातिहार्य प्रदर्शन का भी उल्लेख मिलता है। एक बार बुद्ध के निर्देश पर इन्होंने सम्पूर्ण बौद्ध विहार को अपने अंगूठे मात्र से कम्पित कर दिया था।[20] स्वयं गौतम बुद्ध भी इनसे प्रभावित थे तथा भिक्षुओं को उपदेश देने के प्रसंग में उन्होंने कई बार मौद्गल्यायन की प्रशंसा की।[21]

सारिपुत्र के निर्वाण के बाद भी ये संघ के बहुविध विकास में संलग्न रहे। सम्भवतः बौद्ध धर्म संघ के बहुपक्षीय विकास में उनकी अत्यधिक सफलता के कारण अन्य धर्म सम्प्रदायवादियों ने इनसे आतंकित होकर इनका वध कर दिया।[22] इनसे सम्बन्धित सुत्तों में "महागोसिंग" तथा "अनुमान सुत्त" का महत्त्वपूर्ण स्थान है। "महागोसिंग सुत्त" में स्वयं बुद्ध एवं महाकाश्यप जैसे बौद्ध अग्रगण्यों के साथ इनका उल्लेख बौद्ध धर्म संघ में इनके अतिशय महत्त्व का सूचक कहा जा सकता है।[23]

(3) महाकाश्यप

पालि परम्परा में धुतंगवादियों में अग्रगण्य महाकाश्यप[24] का जन्म मगध के समीप महातीर्थ (महातिट्ठ) नामक ग्राम के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। परवर्ती ग्रन्थों में इनके माता-पिता के रूप में क्रमशः सुमनादेवी तथा कपिल ब्राह्मण का उल्लेख किया जाता है।[25] इनका पूर्व नाम पिप्पली था तथा पालि साहित्य में भी इन्हें अनेक स्थानों पर पिप्पली माणव के नाम से सम्बोधित किया गया है।[26]

महाकाश्यप का परिवार राजगृह के अत्यन्त सम्पन्न परिवारों में एक था। प्राप्त विवरणों से समस्त भौतिक सुविधाओं के होते हुए भी ये सांसारिक भोगों के प्रति अनभिलषित लगते हैं। विवाह के प्रति अभिरूचि न होते हुए भी माता-पिता के आग्रह का सम्मान करते हुए इन्होंने कुछ अनुबन्धों के साथ वैवाहिक बन्धन को स्वीकार किया और माता-पिता के देहावसान के तत्काल बाद भार्या भद्दा कपिलानी के साथ गृह त्यागकर संन्यासी बन गए। योग्य गुरू की खोज में इनकी बुद्ध से भेंट होती है और उनके प्रभाव में ये बौद्ध संघ के सदस्य बन जाते हैं।[27]

अपनी दीक्षा से लेकर प्रथम संगीति के अध्यक्ष के रूप में सम्पादित कृत्यों के परिप्रेक्ष्य में महाकाश्यप बौद्ध धर्म-संघ के विशिष्ट व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आते हैं।[28] बुद्ध के बाद बौद्ध धर्म-संघ में कदाचित् इनका दूसरा स्थान था। स्वयं बुद्ध ने एक वक्तव्य में आध्यात्मिक उपलब्धि की दृष्टि से महाकाश्यप को अपने समकक्ष माना है।[29] इसी सन्दर्भ में

वस्त्र-परिवर्तन के प्रसंग का भी उल्लेख किया जा सकता है। रोचक है कि थेरवादी परम्परा में वस्त्र-परिवर्तन की इस घटना को उत्तराधिकार-दान के रूप में देखने की चेष्टा की गई है और कतिपय आधुनिक विद्वानों ने भी इसको महत्त्व दिया है। इस सन्दर्भ में बुद्ध का वक्तव्य कि "यह भगवान का पुत्र मुझसे उत्पन्न, धर्म से निर्मित धर्म दायाद है जो उनके टाट जैसे रूखे पांसुकूल को धारण करता है", विशेष महत्त्व का कहा जा सकता है।[30] निश्चय ही इस प्रकार के सन्दर्भ महाकाश्यप के बुद्धकालीन बौद्ध धर्म के आधार-स्तम्भ होने के प्रमाण हैं।

बुद्ध के बाद तो इनके इस महत्त्व में और अधिक अभिवृद्धि लगती है। बुद्ध के शवदाह के समय महाकाश्यप की प्रतीक्षा[31] और प्रथम संगीति के आयोजन में इनकी मुख्य भूमिका आदि को इसके ज्वलन्त प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[32] यद्यपि इन उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उनके बुद्ध के उत्तराधिकारी होने की बात असंदिग्ध नहीं कही जा सकती है, बल्कि इस प्रकार के मन्तव्य की पुष्टि के लिए और अधिक प्रमाणों की अपेक्षा है, किन्तु बौद्ध धर्म संघ में महाकाश्यप की विशिष्टता निःसंदिग्ध हैं। स्वयं बुद्ध ने धुतंगवादी भिक्षुओं में सर्वश्रेष्ठ कहकर महाकाश्यप की प्रशंसा की है।[33] इनकी विद्वत्ता की दृष्टि से "कस्सप संयुत्त" का विशिष्ट महत्त्व स्वीकार किया जाता है।[34] इनकी मृत्यु का निश्चित ज्ञान तो नहीं है, किन्तु अट्ठकथाओं के अनुसार 120 वर्ष की आयु में ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

(4) महाकात्यायन

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में महाकात्यायन द्वारा सद्धर्म के विकास-विस्तार सम्बन्धी सम्पन्न कार्यों का यत्र-तत्र विवरण मिलता है। अवन्ति एवं सूरसेन जनपद में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है।[35] उन्होंने यहाँ की जलवायुगत प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रति बुद्ध को विश्वास दिलाया तथा दीक्षा, वस्त्र, उपानह सम्बन्धी नियमों में अतिरिक्त छूटें प्राप्त कर प्रत्यन्त क्षेत्र में न केवल बौद्ध धर्म की जड़ें जमा दीं, बल्कि बौद्ध धर्म के विकास को अभिनव दिशा भी दी।

बुद्धकालीन शासक चण्डप्रद्योत (चण्डपज्जोत) के राजपुरोहित के परिवार में महाकात्यायन का जन्म उज्जैन में हुआ था। कात्यायन (कच्चान) इनके गोत्र का नाम था तथा ये इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। अत्यन्त प्रज्ञावान होने के कारण इन्हें महाकात्यायन (महाकच्चान) कहा जाने लगा। बुद्ध की ख्याति से प्रभावित होकर स्वयं प्रद्योतराज ने बुद्ध को आमंत्रित करने इन्हें श्रावस्ती भेजा था। बुद्ध तो उज्जयिनी नहीं आए अपितु इनसे प्रभावित हो इन्हें ही अवन्ति क्षेत्र में सद्धर्म के प्रचार-प्रसार का दायित्व सौंपा। महाकात्यायन ने उस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह भी किया।

प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय के सामान्य अनुशीलन से महाकात्यायन प्रायः उज्जयिनी के मक्करकट के समीप कुररघर प्रपात पर निवास करते एवं उपदेश देते दिखाई देते हैं। यहीं हालिद्दिकानि गृहपति ने महाकात्यायन से प्रभावित हो सद्धर्म में श्रद्धा व्यक्त की थी।[36] लोहिच्च ब्राह्मण ने उपासकत्व ग्रहण कर भिक्षुओं सहित भोजन हेतु आमंत्रित कर, अपने अनुयायियों से महाकात्यायन की सेवा कराने का आग्रह भी किया था। स्वयं बुद्ध ने संक्षिप्त की व्याख्या करने वालों में महाकात्यायन को सर्वोच्च क्रम पर प्रतिष्ठित किया।[37] अष्ट मागन्दिय जैसे गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्पादन इनके प्रज्ञावान होने का पुष्ट प्रमाण है।[38] इनके शिष्यों एवं अनुयायियों में मथुरा के शासक अवन्तिपुत्त तथा हालिद्दिकानि, लोहिच्च जैसे उपासक, वेलुकण्टकी नन्दमाता जैसी उपासिकाएं, सोणकुटिकर्ण जैसे भिक्षु और उपजा, काली, इसिदासी जैसी भिक्षुणियाँ सम्मिलित थीं, जिन्होंने धर्म-संघ के बहुआयामी विकास में अपना सहयोग दिया।[39]

(5) पिण्डोल भारद्वाज

पिण्डोल भारद्वाज भी महाकात्यायन के समान राजपुरोहित (कौशाम्बी) के पुत्र थे। ये वेदों के ज्ञाता एवं कुशल शिक्षक थे, किन्तु कुछ दिनों बाद इस कार्य में अनभिरूचि के कारण राजगृह चले आए एवं वहाँ बुद्ध के शिष्यों से प्रभावित होकर संघ-दीक्षा ग्रहण कर ली।[40]

एक अवसर पर पिण्डोल भारद्वाज द्वारा किए गए उद्घोष "वे बुद्ध द्वारा

व्यक्त बातों को उन्हीं की तरह समझते हैं" को बौद्ध परम्परा न केवल ससम्मान स्मरण करती है, वरन् इसे भिक्षुओं द्वारा सिंहनाद के रूप में लेने और बुद्ध द्वारा भी इसकी प्रशंसा करने का उल्लेख करती है।[41] इसी अवसर पर बुद्ध ने पिण्डोल भारद्वाज की प्रज्ञा एवं ऋद्धि से प्रभावित होकर उनके सिंहनादियों में अग्रगण्य होने की घोषणा की।[42] यही नहीं, बौद्ध भिक्षुओं की प्रतिष्ठा के प्रश्न पर इन्होंने पहुँच से बाहर अति ऊंचे बाँस पर राजगृह श्रेष्ठि द्वारा लटकाए गए चन्दन-पात्र को ऋद्धि-बल द्वारा प्राप्त कर लिया था।[43] इसके अतिरिक्त भी अनेक अवसरों पर इन्होंने प्रसेनजित को प्रभावित किया तथा संघ की वृद्धि-समृद्धि में सहभागिता की। तत्कालीन राजतंत्रों में एक वत्स देश के राजा उदयन को सद्धर्म में श्रद्धालु बना उपासक के रूप में दीक्षित करने का श्रेय भी इन्हीं पिण्डोल भारद्वाज को दिया जाता है।

(6) उरुवेल काश्यप

उरुवेला में नैरंजना नदी के तट पर तपस्या कर रहे जटिल-बन्धुओं – उरुवेल, नदी, गय, में उरुवेल काश्यप का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सद्धर्म में दीक्षित होने के बाद बौद्ध धर्म संघ के सम्मान एवं संख्या वृद्धि में भी इनका महत्त्व लक्षित होता है। यद्यपि बुद्ध द्वारा प्रथमतः अपनी ध्यान-धारणादि के लिए स्थान माँगने पर देने से न केवल इन्होंने मना किया; वरन् एकाधिक बार विद्वेषजन्य व्यवहार भी किया था किन्तु अन्ततः बुद्ध के प्रातिहार्य प्रदर्शन आदि से प्रभावित होकर जटिल धर्म का परित्याग कर अपने पाँच सौ अनुयायियों के साथ सद्धर्म में दीक्षित हो गए। उनकी इसी सद्धर्म-श्रद्धालुता के कारण उनके दो भाइयों नदी एवं गय काश्यप की अपने क्रमशः 300, 200 अनुयायियों के साथ संघ-दीक्षा सम्भव हो सकी। निश्चय ही किसी एक व्यक्ति के प्रभाव में इतनी अल्पावधि में बौद्ध संघ की संख्या वृद्धि स्वयं बौद्ध संघ के इतिहास में अद्भुत् घटना थी। अतः स्वयं बुद्ध भी उनसे प्रभावित थे और उन्होंने उरुवेल काश्यप की बड़ी जमात वालों में प्रथम कहकर प्रशंसा की।[44] इसके साथ ही जटिलों का संघ-प्रवेश

राजगृह-वासियों के लिए भी बौद्ध धर्म में अनुरक्ति का कारण बना। बौद्ध परम्परा के अनुसार जटिलों के बौद्ध होने में मगधवासियों को सहसा विश्वास ही नहीं हुआ, किन्तु उरुवेल काश्यप के वस्तुस्थिति स्पष्ट करने पर मगधराज बिम्बिसार सहित समस्त जनसभा स्तब्ध रह गई और उनमें से अनेक लोग सद्धर्म के अनुयायी बन गए।

क्षत्रिय : प्रशासक वर्ग

(1) देवदत्त

प्रारम्भिक पालि परम्परा में देवदत्त सम्बन्धी विवरणों के सामान्य अध्ययन से वह परस्पर विरोधी गुणों वाले व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आता है। एक ओर वह जहाँ बौद्ध धर्म के मूल स्वरूप को बनाए रखने का पक्षधर और अतिरेक लाभों का निन्दक दिखाई देता है, वहीं दूसरी तरफ बुद्ध के प्रति विद्वेषजनित व्यवहार तथा संघ-भेदकर्ता के रूप में मिलता है। अतः यह अपने सन्दर्भ में परस्पर विरोधी वक्तव्यों के कारण अध्ययन का अत्यन्त आकर्षक विषय बन जाता है। यही कारण है कि अग्रगण्य भिक्षुओं की सूची में सम्मिलित न होने पर भी इसे प्रस्तुत अध्ययन में सम्मिलित कर लिया गया है।

देवदत्त बुद्ध के मामा सुप्पबुद्ध शाक्य का पुत्र तथा यशोधरा का भाई था।[45] बुद्ध के कपिलवस्तु आगमन पर, उनसे प्रभावित होकर उसने अपने कुछ मित्रों सहित अनुपिया वन में जाकर उनसे प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की।[46] दीक्षित होने के अल्प समय बाद ही उसने अपनी प्रतिभा से कुछ दिव्य अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की लीं[47] और अपने उद्योग से बौद्ध भिक्षुओं में महत्त्वपूर्ण बनता गया। यद्यपि बौद्ध परम्परा में यत्र-तत्र अनेक प्रसंगों में बुद्ध द्वारा इसके प्रति उपेक्षा-भाव लक्षित होता है। एक अवसर पर जब वह गृहस्थों की परिषद में प्रातिमोक्ष पाठ कर रहा था तब भी उसे बुद्ध द्वारा तिरस्कृत होना पड़ा था। इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर तो भिक्षुओं की परिषद में देवदत्त द्वारा उत्तराधिकार की माँग पर बुद्ध ने उसकी "फेंके हुए थूक" के रूप में भर्त्सना की थी।[48] देवदत्त द्वारा बुद्ध के प्रति दुर्व्यवहार

के भी अनेक प्रसंग मिलते हैं। एक अवसर पर तो अजातशत्रु के सहयोग से बुद्ध को मारने का षड्यंत्र-भाव दिखाई देता है।[49] किन्तु इन सभी तथ्यों को यथावत स्वीकार कर लेना संशयरहित नहीं लगता, हो सकता है देवदत्त के विरोधियों द्वारा बाद में यह क्षेपक के रूप में जोड़ दिया गया हो। यह बात अजातशत्रु-विरोधी या बिम्बिसार-प्रेमी भिक्षुओं का दुष्प्रचार भी हो सकता है क्योंकि बिम्बिसार जहाँ बुद्ध का अनुयायी था, वहीं उसका विद्रोही अजातशत्रु देवदत्त का समर्थक। अपने वर्णित रूप में देवदत्त निश्चय ही महत्वाकांक्षी लगता है। उसकी बुद्ध का उत्तराधिकारी बनने की मंशा भी हो सकती है। किन्तु बुद्ध से बौद्ध धर्म-संघ के मूल स्वरूप को बनाए रखने के लिए और बौद्ध भिक्षुओं को चतुर्निश्रय से अनुशासित करने, अतिरेक लाभ को समाप्त करने का अनुरोध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।[50] सम्भव है इससे कुछ खिन्न सुविधाभोगी भिक्षुओं ने देवदत्त को संकीर्ण मानसिकता वाला कह दिया हो। यद्यपि इस प्रकार के वक्तव्य अनुमान पर आधारित हैं तथा इनकी पुष्टि के लिए अधिक सशक्त प्रमाणों की अपेक्षा है।[51]

यद्यपि बुद्ध एवं देवदत्त का परस्पर मतभेद अवश्य था लेकिन वह किस सीमा तक था और उसका क्या स्वरूप था ? यह स्वतंत्र अध्ययन का विषय हो सकता है। स्वयं देवदत्त भी अपने वर्णित रूप में त्यागी एवं ज्ञान-सम्पन्न भिक्षु के रूप में उभरकर सामने आता है। बौद्ध संघ में स्वयं उसके बहुत से पक्षपोषक थे। एक अवसर पर तो स्वयं उसने पाँच सौ भिक्षुओं का एक अलग संघ ही बना लिया था। यद्यपि यह बात अलग है कि वह इस प्रयास में अन्ततः सफल न रहा।[52]

(2) आनन्द

यह सत्य है कि सारिपुत्र-मौद्गल्यायन गौतम बुद्ध के अग्र-श्रावक थे तथा उनकी दृष्टि में सम्मान्य भी थे; किन्तु यह निर्विवाद है कि बुद्ध के **सर्वाधिक प्रिय शिष्यों में आनन्द प्रथम थे।** आनन्द बुद्ध के चाचा अमितोदन के पुत्र थे। ये संघ की स्थापना के दूसरे वर्ष ही अनुरुद्ध, देवदत्त आदि के

साथ संघ-दीक्षित हुए थे।[53] आनन्द बुद्ध के किस प्रकार अनुग्रह-प्राप्त शिष्य थे, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है; कि स्वयं बुद्ध द्वारा अङ्गुत्तर निकाय की वरेण्य सूची में एक-साथ आनन्द को बहुश्रुतों, स्मृतिमानों, गतिमानों, धृतिमानों तथा सेवकों में अग्र कहा गया है।[54] और यह इसलिए भी स्वाभाविक लगता है कि आनन्द बिना किसी व्यवधान के निरन्तर अन्तिम बीस वर्षों तक भगवान के उपस्थाक रहे हैं।[55] अतः इस प्रकार की प्रशंसा स्वाभाविक है। बुद्ध द्वारा आनन्द के व्यवहारों को अत्यधिक समीप से परखने के कारण भी इस प्रकार के मानसिक उद्‌गार की सम्भावना की जा सकती है।

यद्यपि आनन्द के प्रज्ञा सम्बन्धी विषय पर प्रारम्भिक पालि साहित्य में कोई विस्तृत प्रमाण नहीं मिलते, कुछ सुत्तों, जिनमें उन्होंने आयुष्मान वङ्गीश को मोहजाल से मुक्त कराया था[56], से अनुमान है कि वे सामान्य कोटि के भिक्षु थे। यद्यपि वे संघ में प्रवेश के पश्चात् ही पूर्ण मन्तानिपुत्र के उपदेश से स्त्रोतापन्न हो गए थे;[57] किन्तु उपलब्ध विवरणों से स्पष्ट है कि बुद्ध के जीवनकाल की तो बात ही अलग है, प्रथम संगीति के अवसर पर अपने विरूद्ध आरोप कथन तक उन्हें अर्हत बनने का सौभाग्य नहीं मिला था।[58] इन सबके बावजूद यह महत्त्वपूर्ण है कि भिक्षुणी-संघ की स्थापना में आनन्द का सर्वाधिक योगदान था। यदि यह कहा जाय कि भिक्षुणी संघ की स्थापना आनन्द के प्रयासों का ही सुफल था, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह इसलिए भी उचित लगता है क्योंकि आनन्द के अत्यधिक अनुग्रह के कारण ही गौतम बुद्ध ने प्रथम भिक्षुणी के रूप में महाप्रजापति गौतमी को प्रवेश देकर भिक्षुणी-संघ की नींव डाली थी। यही नहीं, स्वयं बुद्ध के काल में भिक्षुणी संघ के प्रमुख उपदेशक के रूप में आनन्द प्रतिष्ठित हुए। कालान्तर में तो बौद्ध परम्परा उनका भिक्षुणियों के आराध्य के रूप में स्मरण करती है। अर्हत न होते हुए भी आनन्द की प्रथम संगीति में सहभागिता[59] अपने प्रति लगाए गए आरोपों का विनम्रतापूर्वक सतर्क खण्डन, छन्न को ब्रह्मदण्ड दिए जाने के लिए भेजे गए दल का नेतृत्व[60] आदि को भी बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर भी बौद्ध संघ में आनन्द की विशिष्टता बने रहने का परिचायक कहा जा सकता है।

(3) काल उदायी

प्राचीन साक्ष्यों से विदित होता है कि काल उदायी शुद्धोदन के शाक्य मंत्री-पुत्र थे तथा इनका जन्म कपिलवस्तु में उसी दिन हुआ था, जिस दिन सिद्धार्थ गौतम उत्पन्न हुए थे। वस्तुतः इनका नाम केवल उदायी था; किन्तु अत्यधिक श्याम वर्ण होने के कारण ये काल उदायी कहलाए। गौतम बुद्ध के गृहत्यागी तपस्वी बनने पर शुद्धोदन ने इन्हें बुद्ध को कपिलवस्तु आमंत्रित करने का दायित्व सौंपा जिसमें ये सफल रहे।

धर्म-संघ की ख्याति एवं बुद्ध से प्रभावित होकर ये संघ के सदस्य बन गए[61] तथा अल्प समय पश्चात् ही बुद्धोपदेश सुनकर ये अर्हत हो गए तथा बुद्ध ने कुलों को प्रसन्न करने वालों में इन्हें अग्रगण्य स्वीकार किया।[62]

(4) नन्द

गौतम बुद्ध द्वारा जितेन्द्रियों में प्रथम क्रम पर प्रतिष्ठित नंद[63] स्वयं बुद्ध के सौतेले भाई तथा शुद्धोदन एवं महाप्रज़ापति के पुत्र थे। कपिलवस्तु में गौतम के आगमन के तृतीय दिवस ही नन्द का विवाह एवं राज्यारोहण सुनिश्चित था। बुद्ध भिक्षा-दान हेतु जब उनके घर गए, भिक्षा-दान के पश्चात् नन्द बुद्ध के साथ ही विहार तक विदा करने आए तब बुद्ध ने जनपद कल्याणी से अपने विवाह के मोह में ग्रस्त नन्द को प्रव्रजित करने में सफलता प्राप्त की।

नन्द का सद्धर्म की बहुविध समृद्धि में विशिष्ट स्थान था। पालि परम्परा उनका सादर स्मरण करती है। विशिष्ट अवसरों पर बुद्ध सहित अनेक भिक्षुओं ने उनकी प्रशंसा की। ये अपने मानवीय विकारों को दमित कर संघ के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में विख्यात हुए।

वैश्य : गृहपति

(1) यश

प्राचीन पालि परम्परा यश का चित्रण प्रायः सिद्धार्थ के समान ही

संवेदनशील व्यक्ति के रूप में करती है। ये बनारस के अति सम्पन्न श्रेष्ठि के पुत्र थे। भोग-विलास में आकण्ठ डूबे यश को अचानक संसार से विरक्ति हो गई तथा ऋषिपत्तन मृगदाव में इन्होंने बुद्धोपदेश से प्रभावित होकर प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा ग्रहण की।[64] इनकी प्रव्रज्या के अनन्तर इनके माता-पिता तथा चार प्रिय मित्रों विमल, सुबाहु, पूर्णजित तथा गवांपति सहित पचास अन्य स्वजनों ने भी दीक्षा ग्रहण की।[65]

संघ की आर्थिक एवं सांख्यिक वृद्धि की दृष्टि से यश का विशिष्ट स्थान लक्षित होता है। बनारस के प्रमुख श्रेष्ठि सहित यश के संघ-प्रवेश ने तत्कालीन अनेक लोगों को संघ के प्रति आकृष्ट किया होगा – जैसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यश के साथ प्रव्रजित उसके मित्रों में गवांपति ने कालान्तर में अत्यधिक ख्याति प्राप्त की तथा अनेक प्रकार की ऋद्धि प्राप्त कर वे भी अर्हत हुए।[66]

(2) सोण कुटिकर्ण

प्राचीन साक्ष्यों में प्रायः सोण कुटिकर्ण के पारिवारिक सन्दर्भों का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, इनकी माता के रूप में कुररघर निवासी काली का विवरण अवश्य मिलता है। यह राजगृह की निवासी थी और सम्भवतः इसका विवाह उज्जैन के निकट कुररघर में हुआ था। ऐसा लगता है कि यह स्वयं भी बुद्ध से प्रभावित थी।[67]

बुद्ध के वचनों से प्रभावित होकर सोण ने महाकात्यायन से प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा ग्रहण की।[68] अवन्ति क्षेत्र उन दिनों बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से अनुकूल नहीं था। किन्तु महाकात्यायन के साथ-साथ इस क्षेत्र में व्यापक प्रचार-प्रसार का श्रेय सोण कुटिकर्ण को भी दिया जाना चाहिए। यही नहीं, प्रचार-प्रसार में भिक्षुओं को हो रही परिस्थितिजन्य कठिनाइयों के निदान हेतु महाकात्यायन के निर्देश पर सोण कुटिकर्ण ने बुद्ध से निवेदन कर पाँच विशेषाधिकार, चार भिक्षुओं एवं विनयधर के माध्यम से उच्च-दीक्षा, पतली एड़ी के जूते का उपयोग, स्नान सम्बन्धी नियमों में छूट, भेड़-बकरी के चमड़े का वस्त्र के रूप में प्रयोग, सीमा छोड़ते हुए वस्त्र

स्वीकार करना तथा उपहार में प्राप्त वस्त्र जब तक भिक्षु के हाथ में न पहुँच जाएँ तब तक दस दिन का नियम न माने जाने की अनुमति, प्राप्त किया।[69] इस प्रकार इन्हें संघ के नियमों में संशोधन-परिवर्धन की दृष्टि से ही नहीं, अपितु सद्धर्म के प्रचार की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने सुवक्ताओं में अग्र कहकर इनकी प्रशंसा की थी।[70]

निम्न : अन्य वर्ग

(1) उपालि

प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में उपालि का विनय के नियमों में निष्णात व्यक्ति के रूप में स्मरण किया गया है।[71] यह कपिलवस्तु के एक नाई-परिवार में उत्पन्न हुआ था तथा शाक्य राजकुमारों का सेवक था।[72]

बुद्ध के पास अनुपिया वन में प्रव्रज्या-उपसम्पदा के अनुरोध के लिए शाक्य राजकुमारों के साथ जाने वालों में यह उपालि भी था।[73] जातिवाद में विश्वास करने वाले शाक्य राजकुमारों की कुलीनता के मान के दमन की दृष्टि से बुद्ध ने प्रथमतः उपालि को तदनन्तर शाक्य राजकुमारों को संघ-दीक्षित किया।

उपालि को बौद्ध भिक्षु के रूप में अतिशय महत्त्व प्राप्त हुआ। निम्न-कुलीन होने के उपरान्त भी पालि परम्परा इसका ससम्मान उल्लेख करती है। अनेक अवसरों पर स्वयं बुद्ध भी विनय सम्बन्धी नियमों पर उपालि से चर्चारत दिखाई देते हैं। यही नहीं, उन्होंने उसे विनयधरों में अग्र घोषित किया था।[74] इसके अतिरिक्त भी विनय पिटक में उपालि एवँ गौतम बुद्ध के मध्य प्रश्नोत्तर-श्रृंखला का भी विवरण प्राप्त होता है,[75] जिसे उपालि की श्रेष्ठता का सूचक कहा जा सकता है।

उपालि को विनय से सम्बन्धित नियमों के संशोधन-परिवर्धन का श्रेय भी दिया जाना चाहिए। ऐसा लगता है कि संघ में नव-दीक्षित होने वाले भिक्षुओं को नियम सम्बन्धी जानकारी प्रदान करने का दायित्व भी इन्हीं का था। उपालि का निर्वाण लगभग 63 वर्ष की उम्र में हुआ।

भिक्षुणी : ब्राह्मण वर्ग

(1) भद्दा कपिलानी

भद्दा कपिलानी काश्यप गोत्र ब्राह्मण[76] की पुत्री तथा प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु महाकाश्यप की पत्नी थी।[77] भद्दा भी महाकाश्यप के साथ संघ-दीक्षित होना चाहती थी किन्तु उस समय तक भिक्षुणी-संघ की स्थापना न होने के कारण इन्हें संघ में प्रवेश नहीं मिला। कालान्तर में भिक्षुणी-संघ की स्थापना तथा महाप्रजापति गौतमी की प्रव्रज्या के बाद इन्हें संघ में प्रवेश प्राप्त हुआ।[78] कुछ समय बाद ही इन्होंने अर्हत पद प्राप्त कर लिया। स्वयं बुद्ध ने इनकी पूर्व जन्म में अनुश्रमण वाली भिक्षुणियों (जिन्हें अपने पूर्व जन्म की बातें स्मरण थीं) में सर्वश्रेष्ठ कहकर प्रशंसा की थी।[79]

भद्दा कपिलानी विदुषी भिक्षुणी के रूप में प्रसिद्ध थीं। यद्यपि भिक्षुणी-संघ की स्थापना महाप्रजापति गौतमी एवं आनन्द के प्रयासों से हुई, किन्तु भद्दा कपिलानी का भी इसमें किञ्चित् योगदान स्वीकार किया जाना चाहिए।

क्षत्रिय : प्रशासक वर्ग

(1) महाप्रजापति गौतमी

महाप्रजापति गौतमी बुद्ध की विमाता तथा महामाया की बहन एवं सुप्पबुद्ध की पुत्री थी। इनका जन्म देवदह में हुआ था।[80] महाप्रजापति गौतमी को भिक्षुणी-संघ की स्थापना का श्रेय प्राप्त है।

महाप्रजापति गौतमी को संघ दीक्षा के कुछ समय पश्चात् अर्हत पद प्राप्त हुआ। इन्होंने पाँच सौ अनुयायियों के साथ बुद्ध से नन्दकोवाद सुत्त का उपदेश ग्रहण किया। महाप्रजापति के समक्ष ही गौतम बुद्ध ने बहुमूल्य वस्तुओं के न लेने सम्बन्धी "दक्षिणा विभंग" सुत्त का उपदेश दिया था।[81] गौतम बुद्ध अपनी विमाता से असीम स्नेह करते थे। सम्भवतः यही कारण था कि उन्होंने स्वयं निर्मित नियम को भंग कर अकेली रह रही बीमार गौतमी को देखने गए एवं उपदेश भी दिया।[82] बुद्ध इन्हें अत्यधिक सम्मान देते थे तथा उन्होंने प्रजापति गौतमी को रात्रि के जानकारों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया।[83]

वैश्य : गृहपति वर्ग

(1) धमदिन्ना

धमदिन्ना राजगृह के श्रेष्ठि विशाख की भार्या थी।[84] बुद्ध के उपदेश मात्र सुनकर उसे अनागामीत्व प्राप्त हो गया था। तदनन्तर वह अपने पति की अनुज्ञा से संघ की सदस्या बनी और उसे शीघ्र ही अर्हत्व की प्राप्ति हुई। धमदिन्ना पुनः राजगृह वापस आई तथा अपने पति को ''चुल्ल वेदल्ल सुत्त'' नामक उपदेश दिया[85] जिससे वह अत्यन्त प्रभावित हुआ तथा बुद्ध के पास जाकर सारा वृत्तान्त कहा। इस अवसर पर बुद्ध ने धमदिन्ना की प्रशंसा की एवं उसे धर्मकथा कहने वाली स्त्रियों में अग्र घोषित किया।[86]

निम्न : अन्य वर्ग

(1) आम्रपाली

आम्रपाली का संघ की आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान था। आम्रपाली वैशाली की राजनर्तकी एवं बिम्बिसार की प्रेयसी थी। वह बुद्ध की ख्याति से प्रभावित थी। उसने वैशाली के निकट कोटिग्राम में बुद्ध के आगमन पर उनके उपदेश से प्रभावित हो, उन्हें भिक्षु संघ सहित भोजन हेतु आमंत्रित किया। उल्लेखनीय है कि गौतम बुद्ध ने वैशाली के लिच्छवियों का भोजन-आमंत्रण अस्वीकार कर आम्रपाली के आमंत्रण को महत्त्व दिया। भोजनोपरान्त उसने भिक्षु-संघ को आम्रवन दान में दिया[87] जिसका प्रायः बौद्ध साहित्य में अम्बपालि-वन के नाम से उल्लेख मिलता है। कालान्तर में वह भिक्षुणी-संघ की सदस्या बनी तथा अर्हत पद प्राप्त किया।

(2) भद्दा कुण्डलकेशा

राजगृह की श्रेष्ठि-पुत्री भद्दा कुण्डलकेशा आरम्भ में निगण्ठों से प्रभावित थी, किन्तु निगण्ठों के संसर्ग में इसकी जिज्ञासा शान्त न हो सकी। सौभाग्यवश इसी बीच इसकी भेंट सारिपुत्र से हो गई जिनसे यह

प्रभावित हुई और उनकी प्रेरणा से बुद्ध के पास जाकर, उनके उपदेश के प्रभाव में दीक्षित हो, अर्हत बन गई।

बुद्ध भी भद्दा कुण्डलकेशा की प्रज्ञा से प्रभावित थे तथा उन्होंने क्षिप्र-प्रज्ञाओं में इन्हें अग्र घोषित किया था।[88] इनसे सम्बन्धित कुछ उपदेश थेरीगाथा में भी प्राप्त होते हैं। इन्होंने अपने भिक्षुणी जीवन के लगभग 50 वर्ष अंग, मगध, काशी, कोशल में भ्रमण करते हुए व्यतीत किये।

उपासक : ब्राह्मण वर्ग

(1) सोणदण्ड

प्रारम्भिक पालि परम्परा बिम्बिसार द्वारा ब्रह्मदेय के रूप में प्रदत्त चम्पा के स्वामी सोणदण्ड का धन-सम्पन्न, वेदपाठी ब्राह्मण के रूप में उल्लेख करती है।[89] इसने अपने मित्रों एवं परिजनों के विरोध के बाद भी गग्गरा नदी के तट पर बुद्ध से भेंट की तथा उनके उपदेश से प्रभावित हो उपासक बन, सभिक्षु संघ बुद्ध को भोजन हेतु आमंत्रित भी किया।[90]

यद्यपि सोणदण्ड का बौद्ध धर्म-संघ की वृद्धि-समृद्धि की दृष्टि से विशेष उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु चिन्तनशील ब्राह्मण के रूप में यह अवश्य दृष्टिगोचर होता है। अतः इसकी सम्भावना भी की जा सकती है कि अनेक लोग इस चिन्तनशील बौद्ध उपासक के व्यक्तित्व से प्रभावित हो सद्धर्म-श्रद्धालु बन गए हों। यही कारण है कि पालि परम्परा में इसके और बुद्ध के मध्य हुए वार्तालाप का "सोणदण्ड सुत्त" के रूप में विवरण प्राप्त होता है।[91]

(2) कूटदन्त

मगधराज बिम्बिसार द्वारा ब्रह्मदेय खाणुमत नामक ग्राम के स्वामी के रूप में कूटदन्त नामक ब्राह्मण का प्रारम्भिक पालि परम्परा स्पष्ट उल्लेख करती है।[92] गौतम बुद्ध के खाणुमत-आगमन पर यह एक विशाल हिंसायुक्त महायज्ञ का आयोजक था। यज्ञ में सम्मिलित होने आए बहुसंख्यक ब्राह्मणों

के विरोध के उपरान्त भी यह बुद्ध से मिलने गया।[93] गौतम के उपदेश से प्रभावित होकर इसने न केवल हिंसायुक्त यज्ञ को स्थगित किया अपितु त्रिशरण गमन द्वारा बुद्ध का उपासक बन उन्हें अगले दिन सभिक्षु संघ भोजन पर भी आमंत्रित किया।[94]

संघ की आर्थिक एवं सांख्यिक समृद्धि में भी इसने पर्याप्त सहयोग दिया। इससे सम्बद्ध कूटदन्त सुत्त का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है।

(3) पौष्करसादि (पोक्खरसादि)

उपर्युक्त वर्णित ब्राह्मण उपासकों के समान ही पौष्करसादि भी कोसलराज प्रसेनजित द्वारा प्रदत्त उकट्ठा का स्वामी था।[95] बुद्ध की इच्छानांगल में चारिका के अवसर पर उनकी विद्वत्ता सम्बन्धी अपार ख्याति सुनकर इसने अपने विद्वान शिष्य अम्बट्ठ को वास्तविकता जानने हेतु भेजा। अम्बट्ठ द्वारा वहाँ पर गौतम के ज्ञान की परीक्षा लेने का इसे पश्चात्ताप हुआ अतः इसने न केवल अपने शिष्य को धिक्कारा अपितु अपने परिजनों एवं मित्रों सहित बुद्ध का उपासक बन गया।[96]

प्रायः यह अनुमान किया जाता है कि इसके उपासक बनने से इस क्षेत्र-विशेष में सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में तथा सांख्यिक वृद्धि एवं आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला।

उपासिका

(1) धानन्जानि

यह धानन्जानि ब्राह्मणी सम्भवतः राजगृह की रहने वाली थी। मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय[97] के कतिपय सुत्तों से इसकी बुद्ध, धर्म एवं संघ के प्रति अतिशय श्रद्धा पर प्रकाश पड़ता है। इसके द्वारा स्वयं के पति को भी सद्धर्म की ओर प्रेरित करने का उल्लेख मिलता है। इसी के कहने पर वह न केवल बुद्ध से मिलने जाता है, संघ-दीक्षित होता है वरन् कालान्तर में अर्हत भी बन जाता है।[98]

इसी प्रकार संगारव ब्राह्मण को भी इसने सद्धर्म के प्रति अभिलषित कर बुद्ध के पास जाने हेतु प्रोत्साहित किया और वह बुद्ध से प्रभावित हो उपासक बन बैठा। अतः संगारव को भी बौद्ध उपासक बनाने का श्रेय इसी को दिया जाना चाहिए।[99]

उपासक : क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग

(1) जीवक

मगधराज बिम्बिसार तथा राजगणिका सालवती के पुत्र जीवक कौमारभृत्य का बौद्ध संघ की संख्या-वृद्धि, आर्थिक समृद्धि, नियमों में संशोधन-परिवर्धन आदि सभी दृष्टियों से अपना विशिष्ट स्थान था। जीवक सम्बन्धी विवरणों से ऐसा विदित होता है कि लोक-भय या किसी अन्य कारण से जन्म लेते ही इसे जंगल में छोड़ दिया गया था जिसका अभय राजकुमार ने पालन-पोषण किया और सम्भवतः इसी कारण जीवक के साथ कौमारभृत्य भी जुड़ गया। उचित समय पर वह अध्ययन के लिए तक्षशिला गया और वहाँ भैषज्य-चिकित्सा में पारंगत हो पुनः राजगृह लौट आया।

अपने चिकित्सा सम्बन्धी नैपुण्य से यह न केवल राजगृह बल्कि समस्त उत्तर भारत में सुप्रसिद्ध हो गया। तत्कालीन शासकों एवं श्रेष्ठि परिवारों को उसने अपनी चिकित्सा से स्वस्थ कर दिया; यहाँ तक कि अवन्तिराज चण्डप्रद्योत के आमंत्रण पर जीवक के अवन्ति जाने और उनकी चिकित्सा करने का उल्लेख मिलता है।

बुद्ध के सर्वातिशायी प्रभाव से यह भी बचा न रह सका। बुद्ध के साक्षात्कार से प्रभावित हो इसका उपासक बनना[100] बौद्ध संघ के प्रति अन्य लोगों के आकर्षण, संघ की संख्या-वृद्धि आदि का महत्त्वपूर्ण कारक बना। इसके इस निर्णय पर कि वह बौद्ध भिक्षुओं की निःशुल्क चिकित्सा करेगा, बौद्ध संघ की दीक्षा के प्रति उत्सुकों का बाहुल्य हो गया। यद्यपि इसका दुरुपयोग भी हुआ और अनेक लोग जिनकी सद्धर्म में श्रद्धा तो नहीं थी; किन्तु चिकित्सा-मात्र के लिए संघ में सम्मिलित हो जाते। अतः जीवक कौमारभृत्य के परामर्श पर पाँच रोगों से पीड़ित लोगों के लिए संघ-दीक्षा

निषिद्ध कर देनी पड़ी।[101] इसी प्रकार जीवक को अजातशत्रु जैसे बुद्ध-विरोधी शासक को सद्धर्म श्रद्धालु बना देने का भी श्रेय दिया जाता है।[102]

भिक्षुओं के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए उसके द्वारा समय-समय पर दिए गए सुझावों के अनुरूप खान-पान और व्यवहार सम्बन्धी अनेक नियमों में भी बुद्ध को संशोधन-परिवर्द्धन करना पड़ा। उपासकों, श्रद्धालुओं द्वारा प्रदत्त चीवरों को ग्रहण करना, जन्ताघर, चंक्रमणशाला आदि के उपयोग सम्बन्धी नियमों को इसके ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[103] बौद्ध धर्म-संघ में उसकी इन्हीं विशेषताओं के कारण बुद्ध ने इसे "व्यक्तिगत प्रसन्नों में अग्रगण्य" कहा था।[104]

उपासकों की स्पष्ट व्याख्या के सन्दर्भ में बुद्ध एवं जीवक के मध्य हुए वार्तालाप का प्रारम्भिक पालि परम्परा ससम्मान स्मरण करती है।[105] इसी प्रकार उससे सम्बद्ध उपदेशों में "जीवक सुत्त" भी महत्त्वपूर्ण परिलक्षित होता है।

(2) हस्तक आलवक

प्रारम्भिक बौद्ध अनुश्रुतियों में हस्तक सम्बन्धी विवरणों से यद्यपि इसके नामकरण के सन्दर्भ में विवाद है। जहाँ एक परम्परा में आलवक के शासक-पुत्र होने के कारण इसे आलवक हस्तक कहा गया है, वहीं दूसरी परम्परानुसार बुद्ध द्वारा यक्ष आलवक के ग्रास बनने से इसको बचाने तथा यक्ष द्वारा बुद्ध के हाथों इसे सौंप देने से इसका हस्तक आलवक नाम पड़ा माना गया है। बौद्ध संघ की सांख्यिक वृद्धि तथा आर्थिक-वैचारिक समृद्धि की दृष्टि से इसका अपना विशेष प्रभाव लक्षित होता है। यह बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर न केवल बौद्ध उपासक बना बल्कि शीघ्र ही अनागामीत्व पद प्राप्त कर लिया। समय की दृष्टि से किञ्चित् बाद के एक बौद्ध ग्रन्थ बुद्धवंश में तो चित्र के साथ हत्थक आलवक को भी गौतम बुद्ध द्वारा मुख्य गृही संरक्षक कहा गया है।[106]

पालि साहित्य में इसे प्रायः पाँच सौ गृही-उपासकों के प्रतिनिधि के रूप में उद्धृत किया गया है और प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि समग्र

प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में ऐसे सात ही उपासक वर्णित हैं जिन्हें पाँच सौ उपासकों के नेतृत्वकर्ता के रूप में स्मरण किया गया है।[107] एक बार तो स्वयं बुद्ध ने हस्तक आलवक की नेतृत्व-शक्ति से विस्मित हो यह प्रश्न कर डाला था कि इतने बड़े समुदाय को तुम कैसे अनुशासित रखते हो ? इसके प्रत्युत्तर में आलवक द्वारा दिया गया वक्तव्य कि दान देने, मधुर वचन बोलने उदार कार्य करने एवं व्यवहार में समता रखने जैसे चार व्यवहारों से वह लोगों को अनुशासित करता है, अपने-आप में महत्वपूर्ण लगता है और इसमें बौद्ध धर्म के दया, दान, मुदिता, समता, आदि की भी छवि देखी जा सकती है।[108] सम्भवतः यही कारण है कि बुद्ध अनेक अवसरों पर इसकी प्रशंसा करते मिलते हैं। एक अवसर पर तो इसे बुद्ध ने "चार वस्तुओं से जमात का संग्रह करने वालों में अग्रगण्य" तक कह डाला है।[109] एक अन्य प्रसंग में बुद्ध ने इसके आठ विशिष्ट गुणों – विश्वास, सचेतता, कलंक के प्रति ध्यान से सुनने में योग्य, दानशीलता, विद्वत्ता, सौजन्यता, आदि के धारक के रूप में इसकी प्रशंसा की है।

वैश्य : गृहपति वर्ग

(1) अनाथपिण्डक

अनाथपिण्डक नाम का आशय "अनाथों को भोजन देने वाला" है। अनाथपिण्डक का वास्तविक नाम सुदत्त था जबकि अनाथों को भोजन देने के कारण यह अनाथपिण्डक के नाम से सुख्यात हो गया। यद्यपि उसके सुदत्त नाम में भी एक अच्छे दाता की छवि देखी जा सकती है। श्रावस्ती के इस अति समृद्ध श्रेष्ठि का बुद्ध से राजगृह में सम्पर्क हुआ। विवरण के अनुसार यह अपने बहनोई राजगृह- श्रेष्ठि के पास उस अवसर पर पहुँचा जब वह शीतवन में ठहरे बुद्ध के आमंत्रण-भोज की तैयारी कर रहा था। इसी अवसर पर उसकी न केवल बुद्ध से भेंट हुई अपितु वह बुद्धोपदेश से प्रभावित हो उपासक बन गया और उसने बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को श्रावस्ती आने के लिए आमंत्रित किया। इसी अवसर पर उसने बुद्ध से श्रावस्ती में वर्षावास का अनुरोध किया और भिक्षुओं के लिए विहार के निर्माण की अनुमति माँगी।

अनाथपिण्डक ने श्रावस्ती में भिक्षुओं के आवास के लिए जेत राजकुमार के उपवन का चयन किया और जेत की शर्तो पर उसे क्रय कर उसमें बौद्ध विहार का निर्माण कर आमंत्रण-भोज के अवसर पर बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए बुद्ध को दान में दिया। बौद्ध परम्परा में इस विहार को जेतवनाराम के नाम से स्मरण किया जाता है। स्वयं बुद्ध ने शीत, वर्षा, ग्रीष्म – सभी ऋतुओं के लिए उपयोगी कहकर इसकी प्रशंसा की थी।[110]

निश्चय ही अनाथपिण्डक के इस प्रकार के विहार-दान तथा सहयोग से अन्य लोगों को भी बौद्ध धर्म-संघ की भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सहायता करने की प्रेरणा मिली। इस अनाथपिण्डक के बहुविध सहयोग और उससे बौद्ध धर्म-संघ की विविध क्षेत्रों में हुई समृद्धि से बुद्ध भी अप्रभावित न रह सके और उनके द्वारा अनाथपिण्डक को दान-दाताओं में अग्र घोषित[111] करने का इसे भी एक कारण माना जा सकता है।

(2) चित्र गृहपति

मच्छिकाषण्ड निवासी चित्रगृहपति अपने समय के अति सम्पन्न श्रेष्ठियों में से एक था। प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में उपासक होते हुए भी इसके महिमा-मण्डन सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियों का उल्लेख मिलता है। निश्चय ही उनमें अतिशयोक्ति का पुट अधिक लक्षित होता है, किन्तु किसी उपासक को इस प्रकार वर्णित रूप में गौरवान्वित किया जाना प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में प्रायः दुर्लभ दिखाई देता है। एक प्रसंग में स्वयं बुद्ध ने इसे बौद्ध सिद्धान्तों का उपदेश देने वाले उपासकों में विशिष्ट कहा था।[112] इसने स्वयं बुद्ध की सेवा-सुश्रुषा तो की ही थी, इसके अतिरिक्त इसके द्वारा सम्मान एवं सहायता प्राप्त अन्य बौद्ध भिक्षुओं का भी उल्लेख मिलता है जिनमें महानाम, महक, कामभू, गोदत्त, सुधम्म, आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।[113]

मच्छिकाषण्ड में महानाम के दर्शन एवं वार्ता से अत्यन्त प्रभावित होकर इसने उन्हें न केवल अपने उपवन अम्बाटकाराम में आमंत्रित किया वरन् उनके लिए एक विहार का निर्माण भी कराया।

यहीं उनके "षडायतन विभक्ति" सम्बन्धी उपदेश से इसे अनागामीत्व की प्राप्ति हुई।[114] समय-समय पर इस अम्बाटकाराम में अनेक बौद्ध भिक्षुओं के आने की बात विदित होती है। एक अवसर पर चित्र के अनुरोध पर महानाम एवं महक द्वारा प्रातिहार्य-प्रदर्शन का उल्लेख भी मिलता है। यद्यपि यदा-कदा बौद्ध भिक्षुओं के इससे रूष्ट हो जाने का सन्दर्भ भी मिलता है।[115] स्वयं अम्बाटकाराम का स्थायी निवासी बौद्ध भिक्षु सुधम्म जो कि चित्रगृहपति का अतिशय सम्मान प्राप्त भिक्षु था, एक बार रूष्ट हो गया था। यद्यपि उसके रोष का कारण स्वयं सुधम्म की सम्मान प्राप्त करने की अभिलाषा एवं द्वेष-भाव लगता है और सम्भवतः यही कारण था कि वस्तुस्थिति जानने पर बुद्ध ने सुधम्म को क्षमा माँगने का निर्देश दिया था। लगता है यहाँ के उपासकों में चित्रगृहपति का पर्याप्त सम्मान था। एक अवसर पर तो दो हजार लोगों के साथ इसका बुद्ध के पास जाने का वर्णन है।[116] यद्यपि उपलब्ध विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण एवं संख्या की दृष्टि से रूढ़ अवश्य लगता है, लेकिन इसे भी चित्रगृहपति के बौद्ध संघ के प्रति सम्मान के विशिष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। "संयुत्त निकाय" में तो इसी को लेकर "चित्त संयुत्त" नामक उपदेशों का समूह मिलता है जिसमें इसे संघ के विशिष्ट सहायक के रूप में वर्णित किया गया है।[117] स्वयं आलवक हत्थक के साथ बुद्ध के प्रसिद्ध संरक्षकों में यह एक था।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यह प्रतिष्ठा-प्राप्त था तथा बुद्ध ने इसे धर्मकथिकों में अग्र घोषित किया था।[118] इसके द्वारा निर्वाण-प्राप्ति के अवसर पर भी स्वजनों एवं स्नेही मित्रों को त्रिरत्न में श्रद्धा तथा दान का निर्देश, धर्म-संघ के प्रति इसकी अतिशय श्रद्धालुता का प्रतीक है।

इस प्रकार चित्रगृहपति का बौद्ध संघ की आर्थिक, सांख्यिक एवं वैचारिक समृद्धि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान लगता है।

उपासिका : क्षत्रिय - प्रशासक

(1) सामावती

भद्दावती में जन्मी वत्सराज उदयन की प्रधान महिषी[119] सामावती एक

प्रसिद्ध श्रेष्ठि की पुत्री थी। भद्दावती में फैली महामारी से त्रस्त होकर इसका परिवार अपने पारिवारिक मित्र एवं कोशाम्बी के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठी घोषक के यहाँ पलायन कर गया।

कालान्तर में सामावती के सौन्दर्य से प्रभावित होकर उदयन ने उसे अपनी पटरानी बना लिया जिसे उसकी पूर्व महारानी मागन्दिय ने पसन्द नहीं किया। पालि-विवरणों के अनुसार सामावती की सद्धर्म-श्रद्धा का श्रेय उसकी प्रिय दासी खुज्जुत्तरा को दिया जाना चाहिए। बुद्ध के साक्षात्कार एवं उपदेश को सुनकर खुज्जुत्तरा स्रोतापन्न हो गई तथा उसने सामावती को भी सद्धर्म हेतु प्रेरित किया।[120] फलस्वरूप उसने बुद्ध से प्रतिदिन राजमहल में आकर उपदेश देने का निवेदन किया। यद्यपि बुद्ध ने तो राजमहल में आकर उपदेश देने में असमर्थता व्यक्त की, किन्तु उन्होंने इस कार्य हेतु आनन्द को निर्देश दिया। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि आनन्द द्वारा प्रतिदिन राजमहल जाकर उपदेश देने के सन्दर्भ में मागन्दिय ने सामावती पर अनेक प्रकार के दोषारोपण भी किए;[121] किन्तु इससे सामावती की सद्धर्म-श्रद्धा में कथमपि परिवर्तन नहीं हुआ।

सामावती के उपासिका बनने से धर्म-संघ के बहुआयामी विकास को गति प्राप्त हुई। स्वयं उदयनराज भी संघ के प्रति आकृष्ट हुए[122] तथा राज्याश्रय के प्रभाव में अनेक लोगों ने संघ की आर्थिक एवं सांख्यिक अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया, जैसा मन्तव्य असंदिग्ध लगता है। स्वयं गौतम बुद्ध ने सद्धर्म-श्रद्धालु इस उपासिका की मैत्री-विहार (भावना) करने वालियों में अग्रगण्य कहकर प्रशंसा की थी।[123] अन्ततः मागन्दिय के आरोपों एवं षडयंत्रों के फलस्वरूप इसकी मृत्यु हो गई।

वैश्य : गृहपति वर्ग

(1) विशाखा मृगारमाता

विशाखा अंग के अति सम्पन्न ख्याति प्राप्त श्रेष्ठि मेंडक की पौत्री तथा सुमना एवं धनञ्जय की पुत्री थी। भद्दिया में जन्मी विशाखा का सात वर्ष की

आयु में बुद्ध से प्रथम साक्षात्कार तब हुआ, जब वे शैल ब्राह्मण के साथ अन्य लोगों को उपदिष्ट करने भद्दिया गए थे। इस अवसर पर वह बुद्ध से अत्यन्त प्रभावित हुई। वैसे भी पितामह मेंडक के कारण स्वयं बौद्ध धर्म के प्रति उसकी पारिवारिक अभिरुचि थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रति अनुरक्ति उसे संस्कार में मिली थी। पुनः मृगार--पुत्र पूर्णवर्द्धन के साथ विवाह होने के अनन्तर भी बौद्ध धर्म में अभिरुचि बनी रही। स्वयं इसके प्रभाव में उसका श्वसुर मृगार निगण्ठनातपुत्त एवं जैन धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा का परित्याग कर बौद्ध बन गया।[124]

इसके द्वारा अनेक अवसरों पर पाँच सौ भिक्षुओं के साथ बुद्ध को आमंत्रित कर भोजन कराने का उल्लेख भी मिलता है। उपोसथादि विशिष्ट अवसरों पर इसके द्वारा बौद्ध विहार में जाकर उपदेश सुनने का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है।

इसके आग्रह तथा दान-दक्षिणा पर बुद्ध द्वारा अनेक नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन का भी बौद्ध परम्परा उल्लेख करती है। एक ऐसे ही अवसर पर यह बुद्ध से आजीवन संघ को वर्षासाटिका रोगी तथा रोगी-परिचारकों को भोजन, नित्य प्रातः यवागू-दान, रोगियों की चिकित्सा तथा भिक्षुणियों को उदकसाटी दान करने की अनुज्ञा प्राप्त करने में सफल हुई।[125] यही नहीं इसकी भिक्षुओं को मुख पोंछने का वस्त्र प्रदान करने, झाड़ू, ताड़पत्र के पंखे देने तथा इसके प्रयोग के नियम बनवाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।[126] धर्म-संघ में इसके महत्त्व का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है, कि पालि-परम्परा में प्रव्रज्या सम्बन्धी नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन तथा पवारणा सम्बन्धी नियम के अस्तित्व में आने के सन्दर्भ में भी विशाखा का स्मरण किया गया है।[127] इसने भिक्षुओं के लिए पुब्बाराम नामक विहार जो कि ''मिगारमातु पासाद'' के नाम से भी प्रसिद्ध है, का निर्माण भी करवाया।[128] बौद्ध परम्परा इसके 120 वर्ष तक जीवित रहने का उल्लेख करती है।

संघ की सांख्यिक वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक समृद्धि में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। संघ की बहुविध वृद्धि-समृद्धि में योगदान के फलस्वरूप

प्रारम्भिक पालि-परम्परा इसका ससम्मान स्मरण करती है। इसीलिए स्वयं बुद्ध ने संघ की सम्पूर्ण उपासिकाओं में इसकी "दायिकाओं में अग्र" कहकर प्रशंसा की थी।[129]

(2) सुप्रिया

बौद्ध परम्परा उपासिकाओं में अत्यधिक सम्मान के साथ सुप्रिया का उल्लेख करती है। बनारस-निवासी सुप्रिया के पति का नाम सुप्रिय था। यह धर्म-संघ के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु थी। एक बार तो इसने रोगी-भिक्षु को मांस के सूप की आवश्यकता होने पर तथा बाजार में मांस उपलब्ध न होने की स्थिति में अपने शरीर के एक हिस्से से मांस काटकर उसका सूप तैयार करवाकर भिक्षु के पास भिजवा दिया। इस घटना के पता चलने पर बुद्ध ने मानव-मांस के प्रयोग को निषिद्ध कर दिया।[130] इसका पति सुप्रिय भी अपनी पत्नी की सद्धर्म-श्रद्धा से प्रभावित था तथा अनेक अवसरों पर उसने इसकी प्रशंसा भी की।

संघ के प्रति अतिशय श्रद्धा के कारण बुद्ध भी सुप्रिया से अत्यन्त प्रभावित थे तथा इन्होंने इसे "रोगी सुश्रुषिकाओं" में अग्र घोषित किया था।[131]

निम्न : अन्य वर्ग

(1) खुजुत्तरा

प्रारम्भिक पालि साहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि खुजुत्तरा घोषित (कोशाम्बी) नामक श्रेष्ठि के यहाँ कार्यरत दाई की पुत्री थी। कालान्तर में वह उदयन की प्रधान महिषी सामावती की दासी नियुक्त हुई। इसकी सद्धर्म-श्रद्धा का पालि-परम्परा में ससम्मान उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रारम्भ में यह कलुषित प्रवृत्ति की दिखाई देती है, किन्तु बुद्ध-दर्शन एवं उपदेश से यह स्रोतापन्न हो गई और इसकी कलुषित धारणाएँ समाप्त हो गई। इसकी सद्धर्म-श्रद्धा से स्वयं पटरानी सामावती भी प्रभावित हुई तथा इससे उन्होंने बुद्ध-दर्शन की इच्छा व्यक्त की। खुजुत्तरा

प्रतिदिन विहार में बुद्धोपदेश- श्रवण कर आती थी तथा लौटकर अपनी महारानी को सुनाती थी।[132]

सुरक्षित सन्दर्भों से ऐसा अनुमान होता है कि खुजुत्तरा अत्यन्त प्रज्ञावान एवं कुशल उपदेशक थी। एक अवसर पर तो खुजुत्तरा के उपदेश सुनने मात्र से 500 महिलाओं के स्रोतापन्न हो जाने का आभास मिलता है। सम्भवतः इसीलिए बुद्ध ने "बहुश्रुतों में अग्र" कहकर इसकी प्रशंसा की थी।[133] खुजुत्तरा आजीवन धर्म-संघ के बहुविध विकास में संलग्न रही। यही नहीं, दूसरों को सद्धर्म के प्रति प्रेरित कर सांख्यिक वृद्धि में भी इसने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

बौद्ध धर्म के अग्रगण्य सदस्यों के परिचयात्मक अध्ययन से सुस्पष्ट होता है कि जहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में इनका महत्त्व था, वहीं संघ की बहुविध वृद्धि-समृद्धि में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। उपासक-उपासिका, भिक्षु-भिक्षुणी के रूप में इनकी संघीय सदस्यता का भान होता है। इनके समग्र योगदान को देखते हुए स्वयं बुद्ध ने इनका विशिष्ट श्रेणियों में निर्धारण किया जो कि इनके महत्त्व-प्रतिपादन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। संघ के सदस्यों के रूप में अभिहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा निम्न-अन्य, सभी वर्गों का संघ की बहुपक्षीय समृद्धि में न्यूनाधिक योगदान था।

संदर्भ-सूची

1. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 24 और आगे की पाद टिप्पणियाँ।
2. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 999-1000,
3. धम्मपद अट्ठकथा, भाग 2, पृष्ठ 84.
4. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन गाथा 42, 259.
5. म०नि०, "महावेदल्ल सुत्तन्त, (भिक्षुओं को दिए गए उपदेश के लिए देखें - महादायाद, सम्मदिट्ठि, सुत्तन्त)।
6. म०नि०, "संगीतिपरियाय सुत्त।"
7. -वही- "सच्चविभंग सुत्तन्त।"

8. सं०नि०, 8.7 (पवारणा सुत्त); म०नि० "अनुपद सुत्त", उद्धृत म०नि० (हि०अ०, 2/5/2), "सेल सुत्त।"
9. म०नि०, "सच्चविभग सुत्त।"
10. स०नि०, 22.2 (देवदह सुत्त)।
11. म०नि०, "अनुपद सुत्त।"
12. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 237.
13. सं०नि०, "उक्कचेल सुत्त" तथा "सुसीम सुत्त।"
14. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचयर्या, पृष्ठ 54-55.
15. देखें - अशोक का भाब्रू प्रज्ञापन (कलकत्ता बैराट) अभिलेख।
16. सं०नि०, 47.13 (चुन्द सुत्त); 47.14 (उक्कचेल सुत्त)।
17. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 541.
18. - वही -, पृष्ठ 999-1000.
19. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 21.
20. सं०नि० "मोग्गलान सुत्त।"
21. -वही -
22. तु०, त्रिवेद, देवसहाय, प्राङ्गमौर्य भारत,पृष्ठ 108.
23. म०नि०, "महागोसिंग सुत्त।"
24. अ०नि० (हि०अ०), 14, पृष्ठ 21.
25. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 38.
26. थेरगाथा अट्ठकथा, 30.
27. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 38.
28. वि०चु० 11.1.1 और आगे।
29. सं०नि०, 16.9 (झानाभिञ्ञासुत्त)।
30. महावंश, 3.4-8, सं०नि० 16.11 (चीवर सुत्त)।
31. दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त।"
32. वि०चु० 11.1 और आगे।
33. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 21.
34. सं०नि०, "कस्सप संयुत्त।"
35. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 229, पृष्ठ 238 और आगे।
36. सं०नि०, 22.3 (हालिदि्दकानि सुत्त); 22.4 (दुतिय हालिदि्दकानि सुत्त)।
37. अ०नि०, (हि०अ०) 14, पृष्ठ 22.
38. सं०नि०, 22.3.5, (हालिदि्दकानि सुत्त)।

39. तुलनीय मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 469.
40. - वही - पृष्ठ 202 और आगे।
41. सं०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 725, (पिण्डोल सुत्त)।
42. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 22.
43. वि०चु०, 5.8, सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 76-77.
44. देखें - क्रमशः वि०म०, 1.15, 1.20.19 और अ०नि०, 1.14 (घ, छ)।
45. महावंश, भाग 2, पृष्ठ 22.
46. वि०पि० (पा०टे०सो०), जि० 2, पृष्ठ 182.
47. - वही - पृष्ठ 183, तुलनीय राकहिल, डबल्यू० डबल्यू०, दी लाइफ ऑव बुद्ध, पृष्ठ 85.
48. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें, सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 399 और आगे।
49. - वही -, पृष्ठ 402.
50. देवदत्त के विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें, वि०चु०, 7.3.15.
51. तुलनीय, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 213.
52. थामस, ई०जे०, दी लाइफ ऑव बुद्ध एज लीजैण्ड एण्ड हिस्ट्री, पृष्ठ 137-38, जहाँ इससे सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत हैं।
53. वि०पि० (पा०टे०सो०) जि० 2, पृष्ठ 182.
54. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 23.
55. दी०नि० "महापरिनिब्बान सुत्त"।
56. वि०पि० (हि०अ०), पृष्ठ 150, (आनन्द सुत्त)।
57. सं०वि०, (पा०टे०सो०), जि० 3, पृष्ठ 105.
58. वि०चु० 11.1.6, तुलनीय - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग-1, पृष्ठ 268.
59. वि०चु० 11.1.6, यहाँ प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि आनन्द ने धर्म-संगायन के पूर्व ही अर्हत्व प्राप्त किया था।
60. पूसे, डी ला वेली, दी बुद्धिस्ट कौन्सिल्स, पृष्ठ 6-7 और उनके सन्दर्भ।
61. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें, मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग-1, पृष्ठ 589.
62. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 24.
63. - वही - पृष्ठ 24.
64. वि०पि० (हि०अ०), पृष्ठ 84-85.
65. - वही - पृष्ठ 86-87.

66. थेरगाथा (हि०अ0), गाथा 38, पृष्ठ 17.
67. देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 1291.
68. थेरगाथा (हि०अ०) गाथा 238, पृष्ठ 112; (जहाँ गाथा के पूर्व इसका समीकरण दिया गया है।)
69. वि०म०, 5.13.
70. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 22.
71. तुलनीय पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 157.
72. थेरगाथा (हि०अ०), गाथा 180, पृष्ठ 88 (जहाँ गाथा के पूर्व इसका समीकरण दिया गया है।)
73. थेरगाथा (हि०अ०), गाथा 180, पृष्ठ 88 (जहाँ गाथा के पूर्व इसका समीकरण दिया गया है।)
74. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 24.
75. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 409, अ०नि० "उपालिवग्ग।"
76. - वही - भाग 2, पृष्ठ 354.
77. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 38.
78. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 354.
79. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 25.
80. अपादान, जि० 2, पृष्ठ 538.
81. अ०नि०, "दक्षिणा विभंग सुत्त।"
82. वि०पि० (पा०टे०सो०), जि० 4, पृष्ठ 56 (भिक्षुणियों के लिए किसी भिक्षु से एकान्त वार्तालाप निषेध था, किन्तु बुद्ध ने प्रजापति गौतमी के लिए इस नियम का उल्लंघन किया जो कि विमाता के प्रति उनके स्नेह का सूचक है)।
83. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 24.
84. अ०नि०, पृष्ठ 25 (पाद टिप्पणी, जहाँ इसका समीकरण दिया गया है)।
85. म०नि०, "चुल्ल वेदल्ल सुत्त।"
86. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 25.
87. सं०नि०, 47.1 (अम्बपालि सुत्त), 47.2 (सति सुत्त), 52.9 (अम्बपालि वन सुत्त)।
88. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 25.
89. दी०नि०, "सोणदण्ड सुत्त।"

90. वही -, "सोणदण्ड सुत्त" तुलनीय - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 1296, सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 224-228.
91. दी०नि०, "सोणदण्ड सुत्त।"
92. दी०नि०, "कूटदन्त सुत्त।"
93. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 216-224 (देखें कूटदन्त का सन्दर्भ)।
94. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 216-224.
95. दी०नि०, "अम्बट्ठ सुत्त।"
96. - वही - "अम्बट्ठ सुत्त", तुलनीय, सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 195 और आगे।
97. सं०नि० "धानन्जानि सुत्त।"
98. - वही - "धानन्जानि सुत्त।"
99. म०नि०, "संगारव सुत्त।"
100. म०नि०, "जीवक सुत्त।"
101. वि०म०, क्रमशः 1.39, 1.5, 1.3.9, 6-7, 8.1.34-35 और 5.14.1.
102. दी०नि०, "सामञ्ञफल सुत्त।"
103. -वही - ।
104. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 26.
105. अ०नि०, 8.3.4 और 8.3.6 (महानाम एवं जीवक सुत्त), सं०नि०, 55.37 (महानाम सुत्त)।
106. बुद्धवंश, पृष्ठ 19.
107. सरत्थ पकाशिनी, जि० 3, पृष्ठ 223.
108. अ०नि० (पा०टे०सो०), भाग 4, पृष्ठ 218.
109. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 26.
110. वि०चु०, 6.4 और 6.9.
111. अ०नि० (हि०अ०), भाग 1, पृष्ठ 26.
112. अ०नि० (पा०टे०सो०), भाग 1, पृष्ठ 26.
113. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 865.
114. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 865.
115. वि०पि० (पा०टे०सो०), भाग 2, पृष्ठ 15.
116. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 866.

117. सं०नि०, चित्त संयुत्त, 41.1 और आगे, विशेषतः 17.23 (एकपुत्तक सुत्त)। अ०नि०, 2.12.3, 4.18.6 (आयाचन सुत्त)।
118. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 26.
119. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 27 (पाद टिप्पणी)।
120. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें – मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, पृष्ठ 719.
121. परवर्ती उद्धरणों के लिए दृष्टव्य – मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 516-97 और 1197 एवं आगे।
122. - वही - भाग 1, पृष्ठ 693.
123. अ०नि० (हि०अ०), पृष्ठ 27.
124. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें – मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 900 और आगे।
125. वि०म०, 8.15.
126. वि०म०, 8.18 और वि०चु०, 5.22.
127. सं०नि०, 8.9 (पवारणा सुत्त)।
128. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 28-29 (मिगारमातु पासादगत सन्दर्भ)।
129. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 26.
130. वि०म०, 6.23 तथा 6.23.10 और आगे।
131. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 27.
132. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें – मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 719.
133. अ०नि०, (हि०अ०), पृष्ठ 26.

अध्याय पञ्चम

बौद्ध संघ के विकास में विविध वर्गों के योगदान का स्वरूप विश्लेषण

बौद्ध धर्म की प्रस्थापना के अल्प समय पश्चात् संघ का अस्तित्व ज्ञात होता है। संघ का स्वरूप एवं प्रभाव इतना व्यापक होता है कि धर्म-संघ को परस्पर पृथक् करना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो जाता हैं। वस्तुतः दोनों एक दूसरे के पूरक लक्षित होते हैं। धर्म के द्रुत गति से प्रसरित होने की प्रक्रिया संघ के विकास में सहायक सिद्ध होती है एवं क्रमिक रूप से यह दृढ़तर होता जाता है। बौद्ध संघ के विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ तद्युगीन परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण लगता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था समाप्त तो नहीं किन्तु उसका प्रभाव न्यूनता को प्राप्त हो रहा होता है तथा इस व्यवस्था का स्थान श्रमण, विशेषतः बौद्ध, परम्परा ग्रहण करती दिखाई देती है।

जाति-वर्गविहीन धर्म-संघ का स्वरूप सांख्यिक वृद्धि का महत्त्वपूर्ण कारण बनता है तथा इस प्रकार की संख्या वृद्धि में समाज के विभिन्न वर्गों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण लगती है। भिक्षुओं का विचरण धर्म-प्रचार के साथ-साथ संघ की भौगोलिक सीमाओं के निर्धारण में भी सहायक सिद्ध हुआ। यही कारण था कि जहाँ आरम्भ में धर्म-संघ मगध के समीपवर्ती मज्झिमा जनपद तक सीमित था, वहीं सद्धर्म के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप संघ का प्रत्यन्त जनपद अर्थात् सुदूर अवन्ति तक विस्तार हुआ। बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में भिक्षु-भिक्षुणियों का जीवन चतुर्निश्रयों पर आधारित था।[1] इसका विधान मात्र उनके जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए किया गया था। सामान्य रूप में इसका स्वरूप अस्त-व्यस्त

दिखाई देने लगता है,[2] परन्तु यदि इतिहास के विद्यार्थी की दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसा लगता है कि यह क्रमिक रूप से विकास की प्रक्रिया थी। बढ़ते सामाजिक सम्पर्कों, प्रभूत मात्रा में संघ को मिलने वाले दान, साथ ही गौतम बुद्ध की यह सोच कि जो भी भिक्षा में प्राप्त हो, उसे स्वीकार करना चाहिए।[3] फलस्वरूप समाज के प्रतिष्ठित नागरिकों, उपासकों ने नकद धनराशि के रूप में न सही, बहुमूल्य वस्तुओं के रूप में संघ को दान देना आरम्भ किया जिससे संघ की आश्चर्यजनक रूप से आर्थिक वृद्धि हुई।

यद्यपि बौद्ध संघ के विकास में सामाजिक, राजनीतिक, सांख्यिक वृद्धि, आर्थिक समृद्धि, भौगोलिक विस्तार आदि कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका परिलक्षित होती है। किन्तु इनमें भी सांख्यिक-वृद्धि, भौगोलिक-विस्तार, आर्थिक-समृद्धि का विशिष्ट महत्व लक्षित होता है। यह समाज के अन्य घटकों को भी सद्धर्म के प्रति प्रेरित करते दिखाई देते हैं।

पूर्वोल्लिखित महत्वपूर्ण कारकों में ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा निम्न-अन्य वर्ग की किस प्रकार की भूमिका थी ?, इनके योगदान का स्वरूप क्या था ?, क्या किसी एक जाति-वर्ग को किसी कारक के विस्तार-विकास का श्रेय दिया जा सकता है ?, के प्रति जिज्ञासा बढ़ती है। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अध्याय में बौद्ध संघ की सांख्यिक-वृद्धि, आर्थिक-समृद्धि एवं भौगोलिक-विस्तार में विविध जाति-वर्गों के योगदान को विश्लेषित करने की चेष्टा होगी।

सांख्यिक-वृद्धि

सद्धर्म के सत्वर गति से प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया ने संघ के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। निश्चय ही इस प्रकार के विस्तार की प्रक्रिया में लोगों की सम्बद्धता का विशिष्ट महत्व था। यद्यपि प्रारम्भिक पालि साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि संघ के आरम्भिक स्वरूप में गौतम बुद्ध एवं पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की प्रधानता थी।[4] कालान्तर में लोग आते गए और सद्धर्म के प्रति उनकी श्रद्धाशीलता तथा बुद्ध के "एको चरे

खग्ग विषाणकप्पो [5] के जयघोष के प्रति आकर्षण ने संघ की सांख्यिक-वृद्धि में महत्वपूर्ण सहयोग किया।

वर्ग-भेद से परे इस संघीय प्रक्रिया में असंख्य लोग सद्धर्म-दीक्षित हो संघ के सदस्य बने। सदस्य बनने के अनुक्रम में ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति, निम्न एवं अन्य वर्ग के लोगों ने संघ में प्रवेश किया। पालि परम्परा के अनुसार कुछ लोग अकेले संघ-सदस्य बने, अनेक समूह के साथ दीक्षित हुए तथा कतिपय ने किसी को अकेले या समूहों को संघ का सदस्य बनने हेतु प्रेरित किया जिसमें वे सफल भी हुए।[6] इस प्रकार संघ की सांख्यिक-वृद्धि में समाज के विविध वर्गों का क्या स्थान था ?, क्या किसी एक जाति-वर्ग को सर्वाधिक सांख्यिक-वृद्धि का श्रेय दिया जा सकता है?, जैसे तथ्यों को ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-निम्न अन्य वर्ग शीर्षक के अन्तर्गत विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा।

ब्राह्मण

प्रारम्भिक पालि परम्परा प्रथम संघ प्रवेशी भिक्षुओं के रूप में पञ्चवर्गीय ब्राह्मणों का उल्लेख करती है[7] तदनन्तर एक हजार अग्निपूजक ब्राह्मण जटिलों का प्रतिनिधित्व करने वाले उरूवेल, नदी तथा गय आदि कस्सप बन्धुओं की संघ दीक्षा[8] ने जहाँ तत्कालीन जन-मानस को उद्वेलित किया था वहीं ब्राह्मणों की इस सामूहिक दीक्षा ने सांख्यिक-वृद्धि का दुर्लभ उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

ब्राह्मणों द्वारा संघीय सदस्य बनकर धर्म-संघ की सांख्यिक-वृद्धि समृद्ध करने का क्रम यहीं पर अवरूद्ध नहीं हुआ बल्कि और द्रुत गति से प्रसरित हुआ। सञ्जय परिव्राजक के ब्राह्मण शिष्यों – सारिपुत्र और मौदगल्यायन का अपने 250 अनुयायियों सहित संघ-प्रवेश[9] अपने-आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण लगता है। यही नहीं, सारिपुत्र ने "धर्म सेनापति" के रूप में[10] धर्म-संघ के दीक्षागत अन्य भिक्षुओं की अपेक्षा सर्वाधिक ख्याति अर्जित की तथा वे संघ में बुद्ध द्वारा निर्मित इस सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित होने वाले प्रथम एवं अन्तिम व्यक्ति थे।

अल्प समय पश्चात् महाकाश्यप के संघ-प्रवेश ने सांख्यिक-वृद्धि को सुदृढ़ता प्रदान की तथा इनका संघ में अत्यन्त विशिष्ट स्थान लक्षित होता है। प्रमुख बौद्ध उपदेशक होने के साथ-साथ इन्हें प्रथम संगीति की अध्यक्षता करने का गौरव भी प्राप्त है।[11] महाकात्यायन की संघ-दीक्षा को अवन्ति परिक्षेत्र में सद्धर्म की प्रस्थापना एवं प्रचार-प्रसार के कारक के रूप में देखा जा सकता है।[12] इनके अतिरिक्त पिण्डोल भारद्वाज जैसे "परम ज्ञान" घोषित करने वाले[13] ब्राह्मणों का भी संघ-प्रवेश हुआ जिसने तत्कालीन अभिजात्य ब्राह्मणों के साथ ही समाज के अन्य वर्गों को भी प्रभावित किया।

उपर्युक्त प्रतिनिधि प्रतिष्ठा प्राप्त भिक्षुओं के अतिरिक्त ब्राह्मण उपासकों की भी विस्तृत श्रृंखला परिलक्षित होती है जिसने त्रिशरण-गमन द्वारा बुद्धानुशासन में अपनी आस्था व्यक्त की। प्रारम्भिक पालि साहित्य में ऐसे अनेक ब्राह्मण ग्रामों का उल्लेख मिलता है जिनके स्वामी ब्राह्मण थे तथा गौतम बुद्ध से प्रभावित होकर वे अपने परिवार एवं ग्राम सहित सद्धर्म के उपासक बने। इनमें उक्ट्ठ का पौष्करसादि, सालवती का लोहिच्च, ओपसाद का चंकी तथा मनसाकट के तारुक्ख, जानुस्सोणि, तोदेय्य आदि का प्रमुखता से उल्लेख किया जा सकता है।[14] पालि विवरण के अनुसार इन ब्राह्मणों के साथ ही ग्रामवासी भी सामूहिक रूप से उपासक बने थे। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि यद्यपि उपासक बनने के पूर्व इन ब्राह्मणों ने गौतम की अनेक प्रकार से ज्ञान-परीक्षा ली थी तथा गौतम बुद्ध से भलीभाँति सन्तुष्ट होने पर ही ग्रामवासियों सहित उपासक बने थे। यद्यपि ग्रामवासियों की संख्या के सन्दर्भ में अनेक प्रकार के मतभेद हो सकते हैं, किन्तु यह सर्वथा अविश्वसनीय भी नहीं लगता क्योंकि ये ग्राम राजा प्रसेनजित द्वारा विद्वान ब्राह्मणों को प्रदत्त किए गए थे तथा उनकी स्थिति ग्राम्य-शासक के रूप में दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इनके शिष्यों एवं निवासियों के लिए आज्ञा का बन्धन तो नहीं रहा होगा किन्तु स्वतः अनुकरण की भावना को नकारा नहीं जा सकता। अतः तत्कालीन सन्दर्भों में सम्पूर्ण ग्रामवासियों की दीक्षा को विस्मयावह नहीं कहा जा सकता।

उल्लेखनीय है कि यहाँ पर उन्हीं महत्वपूर्ण सन्दर्भों का विवरण दिया

गया है जिनमें एक निश्चित संख्या का अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक-एक कर संघ के सदस्य उपासक बनने वालों की संख्या भी पर्याप्त है। इस प्रकार सांख्यिक वृद्धि ही संघ की आर्थिक -भौगोलिक समृद्धि का महत्वपूर्ण कारक थी तथा इसमें ब्राह्मणों की प्रधान भूमिका का अनुमान किया जा सकता है क्योंकि समकालीन परिवेश में ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित कृत्यों का सामाजिक प्रभाव होता था। यही कारण है कि संघ के सदस्यों के वर्गीकरण एवं सांख्यिक विश्लेषण के फलस्वरूप जो आंकड़े उपलब्ध होते हैं उनमें भी उपर्युक्त तथ्यों की संपुष्टि होती है।

प्रारम्भिक पालि वाङ्गमय के सामान्य अध्ययन से निश्चित पहचान वाले भिक्षुओं एवं उपासकों जिन्हें कि सांख्यिक वृद्धि का महत्वपूर्ण घटक माना गया है, में सर्वाधिक संख्या ब्राह्मणों की है।[15] इससे भी स्पष्ट है कि अध्ययन के फलस्वरूप ब्राह्मण भिक्षुओं एवं उपासकों की संख्या क्रमशः 153 एवं 51 है[16] जो कि अन्य वर्गों की तुलना में अत्यधिक है। समस्त भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के अनुक्रम में भी ब्राह्मण वर्ग का सम्पूर्ण योग 232 है जबकि समाज के अन्य वर्गों का समग्र संघीय प्रतिनिधित्व इसके समीप भी नहीं पहुंचता है।[17]

अतः उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह निष्कर्ष सामान्य रूप से उभरकर सामने आता है कि बौद्ध संघ की सांख्यिक वृद्धि का प्रधान श्रेय ब्राह्मण वर्ग को दिया जाना चाहिए और यह सर्वथा उपयुक्त भी है।

क्षत्रिय : प्रशासक

बौद्ध धर्म की सांख्यिक वृद्धि में क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग के योगदान का विश्लेषण अत्यन्त रोचक माना जाना चाहिए क्योंकि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध स्वयं क्षत्रिय थे तथा उनके क्षत्रिय होने का प्रभाव तत्कालीन क्षत्रिय वर्ग एवं प्रशासकीय कार्यों से सम्बद्ध प्रशासक वर्ग पर पड़ा, फलस्वरूप वे संघ की ओर आकृष्ट हुए एवं उन्होंने अपनी भागीदारी भी सुनिश्चित की। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के अध्ययन से तो यह सुविदित होता है कि प्रथमतः क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग के लोगों में संघ के भिक्षु बनने के प्रति

आकर्षण नहीं था। यही कारण है कि संघ के आरम्भिक स्वरूप में हम गौतम बुद्ध के निकटस्थ परिजनों को ही संघ के सदस्य के रूप में देख पाते हैं, यथा - आनन्द, देवदत्त, नन्द आदि।[18]

प्रारम्भिक पालि साहित्य में निश्चित पहचान वाले क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग के सामूहिक रूप से संघ की दीक्षा ग्रहण करने वाले लोगों का प्रायः अभाव है। यद्यपि किन्हीं अवसरों पर राजा सहित उपस्थित जन-मानस के उपासक बनने का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है[19] परन्तु स्पष्ट जानकारी के अभाव में किसी निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव नहीं लगता। निश्चय ही ब्राह्मणों की तुलना में क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग का प्रेरक शक्ति के रूप में भी स्वरूप लक्षित नहीं होता है। यह इसलिए भी उचित लगता है कि यह वर्ग सत्ता से सम्बद्ध था, उनकी दृष्टि में ''सर्वधर्म समभाव'' की भावना निहित थी, किसी एक धर्म का समर्थन करना उनके नैतिक दायित्व के सर्वथा प्रतिकूल था। कभी-कभी किसी एक सम्प्रदाय-विशेष के प्रति श्रद्धासक्त होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है। इन सबके अतिरिक्त भी व्यक्तिगत रूप में इस वर्ग से संघ-दीक्षा लेने वाले भिक्षुओं, जिनकी कि स्पष्ट पहचान है, की संख्या ब्राह्मण वर्ग को छोड़कर सर्वाधिक 64 है[20] तथा सम्पूर्ण स्पष्ट पहचान वाले भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं में इनका प्रतिनिधित्व 126 है। अतः संघ की सांख्यिक वृद्धि की दृष्टि से इन्हें ब्राह्मणों के बाद द्वितीय स्थान पर अधिष्ठित किया जा सकता है। तदयुगीन राजसत्ता की बौद्ध धर्म के प्रति अनुकूलता भी[21] समाज के अन्य वर्गों के लिए सद्धर्म के प्रति अनुरक्ति के लिए प्रेरक बनी और संघ के सदस्यों में उससे वृद्धि हुई। इस प्रकार राजकीय प्रभाव या सौजन्य से प्राप्त होने वाले आर्थिक अनुदान ने भी संख्यात्मक योगदान में अत्यधिक सहायता प्रदान की। अङ्गुत्तर निकाय की वरेण्य उपासक-उपासिकाओं की सूची में वैश्य वर्ग के साथ इनका समावेश भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है।[22]

यद्यपि क्षत्रियों का संघ के सदस्यों में संख्या की दृष्टि से द्वितीय स्थान पर प्रतिष्ठित होने के पीछे गणतंत्रात्मक पद्धति में क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग की

बहुलता की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। गृही-उपासक के रूप में तो इनका और अधिक योगदान लक्षित होता है। इन तथ्यों के प्रकाश में संघ की सांख्यिक वृद्धि में क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग की सहभागिता सहज सुविदित है।

वैश्य : गृहपति

वैश्य-गृहपति वर्ग का संघ की सांख्यिक वृद्धि में विशिष्ट योगदान था। यदि पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की प्रवृज्या को छोड़ दिया जाए तो वाराणसी श्रेष्ठि-पुत्र यश संघ का प्रथम भिक्षु था।[23] यही नहीं, इसी वर्ग के तपुस्स भल्लिक को संघ की सांख्यिक वृद्धि के महत्वपूर्ण कारक उपासक वर्ग की स्थापना का श्रेय भी दिया जाना चाहिए। यहीं यशपिता त्रिशरण-गमन द्वारा सर्वप्रथम संघ के उपासक बने तथा यशमाता प्रथम उपासिका।[24] इसके अल्प समय पश्चात् ही यश के चार गृही मित्रों - विमल, सुबाहु आदि सहित 50 अन्य परिजनों एवं मित्रों ने भी संघ की सदस्यता ग्रहण की।[25]

वैश्य गृहपति वर्ग आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न था। संघ की संख्यात्मक वृद्धि में इनके सहयोग से आर्थिक क्षेत्र पर भी प्रभाव पड़ा साथ ही सुप्पिया जैसी त्यागी उपासिका[26] के सद्कार्यों ने अन्य लोगों को भी धर्म-संघ की ओर आकृष्ट किया। अनाथपिण्डक जैसे महादानी[27] उपासक के संघ का सदस्य बनने से तत्कालीन वणिक समुदाय जहाँ संघ की ओर आकर्षित हुआ, वहीं सामान्य जन-मानस भी सद्धर्म के त्यागमय जीवन एवं उपदेशों के आकर्षण से बच न सका। विशाखा जैसी महादानी[28] तथा उत्तरानन्दमाता और कातियानी जैसी ज्ञान-सम्पन्न उपासिकाओं ने तदयुगीन महिलाओं को भी संघ का सदस्य बनने हेतु प्रेरित किया। धर्म संघ के इस वर्ग के तीव्र आकर्षण से ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म के उद्‌भव के पूर्व यह वर्ग धार्मिक कार्यों से विरत था या फिर सद्धर्म का स्वरूप ही ऐसा था कि यह वर्ग इसके अतीव आकर्षण में बंध गया।

समग्र भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं में इस वर्ग का संख्यात्मक योग 112 है[29] जबकि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग की क्रमशः 235 तथा 126 है।[30] अतः उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर वैश्य-गृहपति वर्ग

तृतीय स्थान पर दिखाई देता है। इसके उपरान्त भी इस वर्ग को उपासकों की वरेण्य सूची में प्रधानता प्राप्त है।[31]

निम्न : अन्य

बुद्धोपदेशों के सामान्य अध्ययन से स्पष्ट है कि उन्होंने प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तों का खण्डन किया, जाति-वर्ग सम्बन्धी निस्सारता का उपदेश दिया और अपने द्वारा प्रतिष्ठित बौद्ध संघ में प्रवेश के लिए सभी जाति-वर्गों को योग्य माना। संघ के सदस्यों के सामान्य अनुशीलन से यह भी सुस्पष्ट है कि उनकी इन मान्यताओं को व्यवहारिक सफलता भी मिली। कम ही सही, निम्न-अन्य वर्ग के लोग भी बौद्ध धर्म-संघ में दीक्षित हुए तथा सद्धर्म में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया और अन्यों के सद्धर्म श्रृद्धालुता के प्रेरणा-स्रोत बने।

इस दृष्टि से भिक्षुओं में मागन्दिय, उपालि, अचेलकस्सप, सुभद्द आदि तथा भिक्षुणियों में अम्बपालि[32], अभयमाता, सामा, आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

थेर-थेरी गाथा में तो इस वर्ग के अनेक भिक्षु-भिक्षुणियों के विचार गाथा के रूप में संकलित हैं। निश्चय ही इस वर्ग के सदस्यों की शिक्षा में अवकाश एवं साधनाभाव के कारण के कारण रूचि रही होगी और बहुतों का शिक्षित हो पाना सम्भव न रहा होगा; ऐसी स्थिति में उपालि जैसे विनयधर[33] हो जाएँ, कई भिक्षु-भिक्षुणियों की गाथाएँ सुरक्षित करने की आवश्यता प्रतीत हो तो इससे इस वर्ग के लोगों की अधिक संख्या में दीक्षा का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। वैसे भी इस प्रकार के उल्लेखों में उन्हीं लोगों के नामादि का स्मरण किया जाना सम्भव होता है जिनकी अपनी विशिष्ट उपयोगिता हो। इस दृष्टि से बौद्ध संघ को भी अपवाद नहीं कहा जा सकता है।

प्राचीन पालि साहित्य के सामान्य सर्वेक्षण से यह सुस्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म जाति की निस्सारता पर आधारित धर्म था, जिसकी मूल देशना कर्माधारित समाज की संरचना थी। वह इसमें किस सीमा तक सफल

हुआ?, यह पृथक् शोध का विषय है किन्तु यह निर्विवाद है कि बौद्ध धर्म का उद्भव जिन जटिलताओं को सरलीकृत करने की प्रक्रिया में प्रारम्भ हुआ था वह निश्चय ही उसमें सफल हुआ तथा इसमें उसे समाज के समस्त वर्गों का सहयोग मिला जिसके फलस्वरूप समन्वयात्मक समाज की धार्मिक अवधारणा का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार संघ की सांख्यिक वृद्धि को धार्मिक समन्वयता का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा निम्न अन्य वर्ग की सहभागिता सांख्यिक वृद्धि का महत्वपूर्ण कारक थी। यद्यपि इनकी परस्पर सहभागिता ही सद्धर्म की उन्नायक थी, इसके उपरान्त भी ज्ञात तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि संघ की सांख्यिक वृद्धि का प्रधान श्रेय ब्राह्मण वर्ग को दिया जाना चाहिए जिनकी प्रेरणा से न केवल तदयुगीन राजसत्ता सद्धर्म के प्रति आकृष्ट हुई बल्कि अन्य सामाजिक वर्गों का भी संघ में प्रवेश हुआ।

भौगोलिक विस्तार

पूर्वोत्तर भारत के क्षेत्र-विशेष में प्रादुर्भूत बौद्ध धर्म का सत्वर गति से विस्तार आश्चर्यजनक ही नहीं अपितु अनेक जिज्ञासाओं को भी जन्म देता है। अपने मौलिक स्वरूप में स्वयं गौतम बुद्ध जहाँ धर्मोपदेष्टा हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट तत्व सद्धर्म के नाम से सुख्यात हुआ, वहीं उनके संघ को धर्म-प्रचारक संस्थान के रूप में स्वीकार करना चाहिए।[34] इनका समन्वित योग सद्धर्म के सत्वर विकास में सहायक सिद्ध हुआ। गौतम बुद्ध न केवल स्वयं सद्धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य करते हैं बल्कि भिक्षुओं को भी धर्म के प्रचार का निर्देश देते दिखाई देते हैं।[35] इन समग्र प्रयासों के फलस्वरूप धर्म-संघ के नवीन केन्द्रों का आविर्भाव हुआ तथा बौद्ध धर्म-संघ अधिकाधिक व्यवस्थित एवं संगठित होता गया। बुद्ध के समय में धर्म-संघ का पर्याप्त भौगोलिक प्रसार हुआ, जिसका प्रासंगिक उल्लेख गौतम बुद्ध की जीवनचर्य्या के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

गौतम बुद्ध एवं उनके शिष्यों के प्रयासों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म न

केवल मज्झिमा जनपद तक सीमित था वरन् वह इन सीमाओं को लाँघकर प्रत्यन्त जनपदों अवन्तिका, मथुरा जैसे स्थलों तक पहुँच चुका था तथा सौवीर एवं तक्षशिला तक विख्यात हो चुका था।

यद्यपि इस भौगोलिक विस्तार के पीछे गौतम बुद्ध की प्रधान भूमिका निहित थी किन्तु इसके विकास एवं विस्तार का श्रेय उन भिक्षुओं को भी दिया जाना चाहिए, जो गौतम बुद्ध के आकर्षण या सद्धर्म से प्रभावित होकर दीक्षित हो क्षेत्र-विशेष में कार्यरत थे, यथा – महाकात्यायन या फिर जो स्वयं बुद्ध से आग्रह कर क्षेत्र-विशेष में सद्धर्म की प्रस्थापना हेतु उपस्थित हुए थे, यथा - पूर्ण। इसी प्रकार उन उपासक-उपासिकाओं का भी साहाय्य था जिनके मान-सम्मान, दान-दक्षिणा से बौद्ध धर्म-संघ न केवल जन-सामान्य वरन् अन्य धर्म-सम्प्रदायवादियों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र बन गया।

धर्म-संघ के इस भौगोलिक विस्तार को देखते हुए उसकी पृष्ठभूमि, विस्तार के नियोजन के स्वरूप और उसके विस्तार की प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों के योगदान के प्रारूप आदि के प्रति सहज जिज्ञासाएँ उठ खड़ी होती हैं और यहाँ इन्हीं की विवेचना का प्रयास होगा।

अध्ययन की मूल अवधारणा यह है कि संघ का भौगोलिक विस्तार क्या पूर्व नियोजित था ? या फिर इसका विस्तार मात्र आकस्मिक था, धर्म-संघ के विस्तार की पृष्ठभूमि क्या थी? तथा इस प्रकार के भौगोलिक विस्तार की प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों के योगदान का स्वरूप क्या था, जैसे तथ्यों की विवेचना का प्रयास होगा।

यद्यपि सद्धर्म के भौगोलिक विस्तार में विविध वर्गों की भूमिका का अध्ययन पूर्व विवरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा निम्न-अन्य वर्ग जैसे विभाजन के अन्तर्गत ही करना उपयुक्त होता किन्तु इस प्रकार की सूचना की अत्यल्पता एवं पुनरावृत्ति के भय से बचने के लिए यहाँ विविध क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न वर्गों की भूमिका का, सद्धर्म प्रचारित क्षेत्र को मज्झिमा एवं प्रत्यन्त जनपद में विभक्त कर समेकित अध्ययन करना ही सुविधाजनक होगा।

मज्झिमा जनपद में सद्धर्म का भौगोलिक-विस्तार

प्रारम्भिक पालि साहित्य से सुस्पष्ट है कि गौतम बुद्ध का चारिका एवं सद्धर्म के प्रचार का प्रभाव प्रायः मज्झिमा जनपद तक ही सीमित रहा। यद्यपि सद्धर्म के प्रचार-प्रसार का क्रम बुद्ध के सम्बोधि प्राप्ति के अनन्तर सारनाथ ऋषिपत्तन मृगदाव की ओर उनके प्रयाण और मार्ग में तपुस्स और भल्लिक नामक वणिकों के द्विशरण-गमन से ही प्रारम्भ हो गया था[36] किन्तु सद्धर्म के भौगोलिक विस्तार का संगठित प्रयास सारनाथ में पञ्चवर्गीय ब्राह्मण भिक्षुओं की दीक्षा और संघ की स्थापना के साथ स्वीकार करना चाहिए। ध्यातव्य है कि यहीं बुद्ध ने भिक्षुओं को, "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय", विभिन्न क्षेत्रों में जाकर धर्म-प्रचार करने का निर्देश दिया।[37]

भौगोलिक विस्तार के इस प्रारम्भिक चरण में काशी-निवासियों की विशिष्ट भूमिका लक्षित होती है। काशी के कीटागिरि निगम निवासी ब्राह्मण अस्सजी नामक बौद्ध भिक्षु का विशेष साहाय्य दिखाई देता है। यद्यपि कालान्तर में इसे बुद्ध द्वारा दण्डित भी किया गया था।[38] वाराणसी के अति समृद्ध श्रेष्ठि-पुत्र यश की संघ-दीक्षा ने भौगोलिक विस्तार को अभिनव दिशा दी। इस घटना ने न केवल वाराणसी के वणिक समुदाय को उद्वेलित किया अपितु दूरस्थ स्थित वणिक एवं वणिकेतर समुदायों को भी सद्धर्म के प्रति अभिलाषित बनाया। वे भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका के रूप में संघ-दीक्षित हुए। उनके त्याग तथा दान-सम्मान ने वणिकेतर लोगों को भी सद्धर्म के प्रति आकृष्ट किया। इसके अतिरिक्त यहीं के सुप्पिय उपासक एवं सुप्पिया उपासिका[39] तथा मच्छिकासण्डवासी चित्रगृहपति का भी बौद्ध धर्म-संघ के प्रति विशिष्ट अनुराग था।[40] इन सबसे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में वैश्य-गृहपति वर्ग की प्रधान भूमिका थी।

मगध क्षेत्र में सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में सभी वर्गों की न्यूनाधिक भूमिका परिलक्षित होती है। यहाँ के प्रभावशाली जटिल काश्यप बन्धुओं ने न केवल अपने एक हजार शिष्यों सहित संघ-दीक्षा ग्रहण की वरन् स्वयं बुद्ध की उपस्थिति में मगधराज बिम्बिसार सहित असंख्य लोगों को सद्धर्म के प्रसार हेतु प्रेरित किया।[41] इसी प्रकार अपने ज्ञान एवं चिन्तनशील प्रवृत्तियों के

माध्यम से सद्धर्म को आलोकित करने वाले ब्राह्मणद्वय सारिपुत्र-मौदगल्यायन का दो सौ पचास अनुयायियों सहित संघ-प्रवेश[42] तथा अति सम्पन्न ब्राह्मण महाकस्सप की संघ-दीक्षा मगध क्षेत्र में तो सहायक सिद्ध हुई ही, अन्य क्षेत्रों में भी बौद्ध धर्म-संघ के विस्तार को गति मिली।

राजन्य और राजा होने से बिम्बिसार की सद्धर्म श्रद्धा सहज ही अनेक लोगों के बौद्ध धर्म के प्रति अभिरूचि का कारण बनी, इसमें किसी को संशय नहीं हो सकता। इसी सन्दर्भ में "राजगह सेट्ठी" एवं अन्य वैश्य-गृहपतियों की भी विशिष्ट भूमिका थी। यहीं क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग से सम्बद्ध अति प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक कौमारभृत्य बौद्ध धर्म का उपासक बना था[43] जिसके चिकित्सकीय प्रभाव में अनेक लोगों ने संघ की सदस्यता ग्रहण की।

अंग भी मगध के अधीन था। शैल जैसे विद्वान ब्राह्मण का शिष्यों सहित संघ-दीक्षित होना सीमा विस्तार में लाभदायक सिद्ध हुआ।[44] सोणदण्ड जैसे अति प्रतिष्ठित उपासकों से इसे और बल मिला[45], मेंडक[46], भद्दिय[47] आदि सम्पन्न श्रेष्ठियों के दान-सम्मान से इस अधिकाधिक बढ़ावा मिला।

कोसल में बौद्ध धर्म-संघ के भौगोलिक विस्तार के आकलन से प्रायः उसमें सभी वर्गों का महत्व दिखाई देता है। वैसे तो कोसल प्रदेश ब्राह्मण धर्म-प्रधान देश के रूप में उभरकर सामने आता है। सम्भवतः यही कारण था कि बुद्ध को यहाँ यत्र-तत्र कठिनाइयों का सामना करना पड़ा[48] किन्तु यहाँ के तर्कप्रिय चिन्तनशील चंकी, लोहिच्च, तोदेय्य, अग्निक, वशिष्ठ, भारद्वाज, ब्रह्मायु, आदि ब्राह्मणों ने अन्ततः बौद्ध धर्म में श्रद्धा व्यक्त की और उससे इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म अत्यन्त लोकप्रिय हो गया, कतिपय स्थलों पर तो ब्राह्मणों के गाँव-के-गाँव समूह में बौद्ध श्रद्धालु बन गए।[49] जहाँ कोसलराज प्रसेनजित बुद्ध के प्रशंसक थे वहीं उनकी रानी मल्लिका बुद्ध के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील थी।[50] निश्चय ही इस क्षेत्र में राजसत्ता का प्रभाव धर्म-संघ के विकास-विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ।

श्रेष्ठियों में बहुल सम्पदा के स्वामी अनाथपिण्डक तथा विशाखा का उपासक बनना, न केवल भौगोलिक विस्तार अपितु अन्य दृष्टियों से भी

अत्यन्त महत्वपूर्ण था। निम्न-अन्य वर्ग से सम्बद्ध अरिट्ठ तथा बुद्ध की प्रेरणा से अंगुलिमाल डाकू का बौद्ध भिक्षु बनना भी भौगोलिक विस्तार के कारक के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

शाक्य जनपद में सद्धर्म के प्रसार का प्रधान श्रेय क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग को दिया जाना चाहिए। स्वयं बुद्ध द्वारा "रोहिणी नदी" के जल-वितरण सम्बन्धी विवाद को सफलतापूर्वक हल करने के पश्चात् अनेक सजातीय लोगों ने संघ में प्रवेश किया।[51] बुद्ध की विमाता महाप्रजापति गौतमी के प्रयासों से इस क्षेत्र की अनेक महिलाओं ने भिक्षुणी संघ के माध्यम से संघ के विस्तार में सहयोग किया।[52] इस सन्दर्भ में अल्प ही सही, प्रशासकेत्तर, वैश्य-गृहपति तथा निम्न-अन्य वर्गों का भी उल्लेख मिलता है।

सद्धर्म के प्रसार का क्रम यहीं पर अवरूद्ध नहीं हुआ अपितु भर्ग देश की राजधानी सुंसमारगिरि के समीपवर्ती क्षेत्रों विशेषतः भेसकलावन मृगदाय तक प्रसरित हुआ जिसमें ब्राह्मण भिक्षु सिरिमण्ड[53], शासक बोधि राजकुमार[54] तथा वैश्य-गृहपति नकुलमाता-पिता[55] का वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है।

वज्जि जनपद विशेषकर वैशाली में यद्यपि प्रथमतः जैन धर्म का प्राधान्य लक्षित होता है और इसके पीछे यहाँ से महावीर स्वामी के मातृपक्ष से सम्बद्ध होने का हवाला दिया जाता है[56] किन्तु बुद्ध के सर्वातिशायी व्यक्तित्व से सद्धर्म विस्तार में सफलता मिली। यहाँ सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में सभी वर्गों का न्यूनाधिक योगदान दिखाई देता है। निश्चय ही इस दृष्टि से राजन्य-प्रशासक वर्ग का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया जा सकता है, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि गणशासित क्षेत्रों में वैसे भी क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग का बाहुल्य होता था। अतः यही बात मल्ल एवं कोलिय जनपद के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। यद्यपि इस क्षेत्र में सद्धर्म विस्तार में सभी वर्गों का योगदान था, किन्तु क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग के सहयोग के आधिक्य को नकारा नहीं जा सकता है। यद्यपि वत्स की राजधानी कोशाम्बी का प्रायः बौद्ध परम्परा में भिक्षुओं के अन्तर्कलह के सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है परन्तु यह निर्विवाद है, कि सद्धर्म के प्रसार की प्रक्रिया यहाँ पर अपने चरमोत्कर्ष पर थी। पिण्डोल भारद्वाज जैसे अति प्रतिष्ठित ब्राह्मण

भिक्षु ने जहाँ वत्सराज उदयन को उपासक बनाने में सफलता प्राप्त की[57] वहीं बौद्ध उपासिका एवं उदयन की महिषी तथा स्वयं उदयन के संयुक्त प्रयासों से बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ। कुक्कुट, घोषित, पावरिक जैसे अग्रणी श्रेष्ठियों की सद्धर्म श्रद्धा[58] तथा छन्न जैसे निम्न-अन्य वर्ग से सम्बद्ध भिक्षु के प्रयासों की भी धर्म-संघ के विस्तार में सफल भूमिका थी।

इसके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मथुरा क्षेत्र में सद्धर्म विस्तार का श्रेय ब्राह्मण वर्ग से सम्बद्ध आचार्य महाकात्यायन को देती है जिसके प्रभाव में मथुरा नरेश अवन्तिपुत्त ने बौद्ध उपासक बनकर बुद्ध उपदेशों के प्रचार-प्रसार में बहुविध सहयोग किया।

बौद्ध धर्म के भौगोलिक विस्तार के सन्दर्भ में वेरञ्जा का अपना विशिष्ट महत्व है। यहाँ सद्धर्म के विस्तार का श्रेय वेरञ्जक ब्राह्मण के आमंत्रण को दिया जाना चाहिए। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि यहाँ बुद्ध ने प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी काफिले के साथ चल रहे वणिक व्यापारियों के सहयोग से धर्म-संघ के विस्तार का सफल प्रयास किया।

आलवी क्षेत्र में बुद्ध उपदेशों के विस्तार में ब्राह्मण वङ्गीश की भूमिका के साथ ही हत्थक गृहपति का प्राधान्य लक्षित होता है। उपासक परिषद के नेतृत्वकर्त्ता के रूप में इसने ख्याति अर्जित कर सद्धर्म के भौगोलिक विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[59] इसी प्रकार कुरु जनपद में धर्म-संघ के सत्वर प्रसार में जहाँ ब्राह्मण भिक्षुणियों नन्दुत्तरा[60] एवं मित्तकाली[61] के साथ ही मागन्दिय ब्राह्मण का सक्रिय सहयोग था, वहीं श्रेष्ठि-पुत्र रट्ठपाल जैसे भिक्षुओं का भी योगदान दिखाई देता है।

प्रत्यन्त् जनपद में सद्धर्म का भौगोलिक-विस्तार

प्राचीन बौद्ध वाङ्गमय के सामान्य अनुशीलन से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म संघ का स्वयं बुद्ध द्वारा प्रत्यक्षतः प्रचार-प्रसार मज्झिमा जनपद तक ही सीमित था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे क्षेत्र भी थे जहाँ सद्धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रसंग में बुद्ध तो वहाँ नहीं गए अपितु उनके शिष्यों-प्रशिष्यों के माध्यम से सद्धर्म का विस्तार हुआ। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में ऐसे क्षेत्रों को प्रत्यन्त

जनपद के नाम से अभिहित किया गया है। यद्यपि प्रत्यन्त जनपद का समीकरण विवादग्रस्त है फिर भी विद्वानों ने अवन्ति, सूनापरान्त, भरूकच्छ जैसे स्थलों को इसके अन्तर्गत रखने की चेष्टा की है। इन स्थलों के अतिरिक्त सौवीर एवं तक्षशिला को भी सुविधा की दृष्टि से इसी में समाहित किया जा सकता है।

बौद्धयुगीन राजतंत्रों में अवन्ति का विशिष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में बुद्ध के अवन्ति-गमन का उल्लेख तो नहीं मिलता परन्तु बौद्ध धर्म-संघ के महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में इसका विवरण अवश्य प्राप्त होता है। यद्यपि इस क्षेत्र में धर्म-संघ के विस्तार का श्रेय मुख्यतः ब्राह्मण भिक्षु महाकात्यायन को दिया जाता है परन्तु उसके इस सफल प्रयास के पीछे अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत की प्रेरणा को भी स्वीकार करना चाहिए।[62] बुद्ध द्वारा सौंपे गए धर्म-संघ विस्तार के दायित्व को अपने दुर्धर्ष प्रयत्नों से महाकात्यायन ने पूर्ण कर दिया। यही प्रत्यन्त जनपदों में होने वाली दीक्षागत असुविधाओं को देखते हुए न केवल यहाँ के लिए बल्कि समस्त प्रत्यन्त जनपदों के लिए नियमों में अनेक संशोधन करवाए।[63] इनके अतिरिक्त लोहिच्च ब्राह्मण[64] तथा वैश्य-गृहपति वर्ग से सम्बद्ध हालिद्दिकानि[65] तथा सोणकुटिकण्ण[66] का भी यहाँ तथागत की मान्यताओं के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान लक्षित होता है।

सूनापरान्त की पहचान निश्चित तो नहीं है परन्तु इसके अपरान्त के समीपवर्ती क्षेत्र होने का अनुमान किया जाता है जिसकी राजधानी सुप्पारक थी।[67] बौद्ध साहित्य में यहाँ की हिंसक प्रवृत्तियों से बुद्ध को विचलित होते दिखाया गया है। सम्भव है यही कारण था कि श्रेष्ठि-पुत्र पूण्ण के स्वयं आग्रह करने पर भी बुद्ध प्रारम्भ में उन्हें सूनापरान्त भेजने हेतु तैयार नहीं दिखाई देते, परन्तु पूण्ण के अत्यधिक आग्रह के कारण अन्ततः बुद्ध ने उन्हें उक्त क्षेत्र में जाने की स्वीकृति प्रदान की और यह पूर्ण की कठोर चर्य्या का प्रतिफल था, कि सूनापरान्त भी अन्य क्षेत्रों के समान ही बुद्ध उपदेशों के विस्तार में सहभागी बना[68] तथा पूण्ण को इस प्रकार के कार्य में अपने सजातीय इसदिन्न भिक्षु का भी पर्याप्त सहयोग मिला।[69]

आधुनिक विद्वानों ने भरूकच्छ को बाहिय देश के रूप में पहचानने का प्रयास किया है।[70] इस प्रकार के समीकरण को असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता है। इस क्षेत्र में बुद्ध वचनों के विकास विस्तार में वैश्य-गृहपति वर्ग से सम्बद्ध भिक्षु बाहिय दारूचीरिय की विशिष्ट भूमिका लक्षित होती है।[71]

बिम्बिसार की प्रेरणा से सौवीर और तक्षशिला के शासकों क्रमशः तिस्स[72] एवं पुक्कुसाति[73] द्वारा बौद्ध भिक्षु बनने की घटना से ज्ञात होता है कि बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का विस्तार इन क्षेत्रों में हो चुका था। यद्यपि उक्त दोनों भिक्षुओं का कार्य-क्षेत्र तो राजगृह था किन्तु सौवीर एवं तक्षशिला से भिक्षु बनने के लिए इनका मगध को जाना इस बात का द्योतक है कि इन दोनों क्षेत्रों तक बौद्ध धर्म की ख्याति फैल चुकी थी।

अतः पालि साहित्य के सामान्य विवेचन से विदित होता है कि धर्म-संघ के भौगोलिक विस्तार में समाज के समस्त वर्गों की समन्वित भूमिका थी। संघ की भौगोलिक सीमाओं का प्रसार-विस्तार सामूहिक प्रयासों का सुफल था।

आर्थिक समृद्धि

गौतम बुद्ध के सर्वातिशायी व्यक्तित्व एवं उनके अनुयायियों के सामूहिक प्रयत्न का सुफल था कि अल्प काल में ही धर्म-संघ में विभिन्न वर्गों के लोगों का समावेश हुआ और सद्धर्म-प्रवेश की इस प्रक्रिया की गति इतनी तीव्र रही कि स्वयं बुद्ध को समाज के विभिन्न वर्गों से संघ में सम्मिलित हुए लोगों को भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिकाओं के रूप में विभक्त करने की शीघ्र ही आवश्यकता महसूस हुई और चतुर्निश्रय का प्रादुर्भाव हुआ। राजसत्ता एवं जन-सामान्य द्वारा मिलने वाली भिक्षा के सन्दर्भ में अनेक नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन हुआ। शनैः शनैः प्रशासक वर्ग एवं वणिकों-व्यवसायियों का बुद्ध एवं धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। इसके साथ ही आर्थिक अनुदान की विधा का सूत्रपात हुआ। यद्यपि आरम्भ में स्वयं बुद्ध विभिन्न रूपों में प्राप्त होने वाले अनुदानों के प्रति अनासक्ति दर्शाते हैं किन्तु शीघ्र ही श्रृद्धालुओं के मनःतोष के लिए दिए जा रहे दान

को स्वीकार करने का मध्यममार्गी स्वरूप भी अपनाते हैं और अपने कल्याण-भाव से श्रद्धालुओं द्वारा दान में दी जा रही अविहित वस्तुओं को स्वीकार करने तथा कुछ आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन के साथ उसे प्रयोग करने की अनुमति प्रदान करते हैं; इन सबके फलस्वरूप धर्म-संघ की परिसम्पत्तियों में वृद्धि होती है। विभिन्न संघारामों में अनेक व्यवस्थापक अधिकारियों की नियुक्ति होती है।[74] कतिपय प्रसंगों में तो यह विवरण प्राप्त होता है कि संघ की आर्थिक समृद्धि से अभिभूत हो कुछ अभिभावक अपने पुत्रों को व्यवसाय के रूप में बौद्ध भिक्षु बनने हेतु प्रेरित करते हैं।[75]

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म-संघ की आर्थिक समृद्धि में गृहत्यागी भिक्षु-भिक्षुणियों का साहाय्य एवं प्रेरक शक्ति तो थी ही, परन्तु इस प्रक्रिया में गृही उपासक-उपासिकाओं का भी प्राधान्य था। संघ की इस आर्थिक समृद्धि में सभी वर्गों का यथा-सामर्थ्य न्यूनाधिक सहयोग था और विभिन्न सामाजिक वर्गों के इस आर्थिक सहयोग के स्वरूप विवेचन का यहाँ प्रयास होगा।

ब्राह्मण

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के सामान्य सर्वेक्षण से विदित होता है कि सद्धर्म के वैचारिक पक्ष को सम्पुष्ट करने में जहाँ ब्राह्मण वर्ग की मुख्य भूमिका थी वहीं सांख्यिक वृद्धि एवं भौगोलिक विस्तार में भी प्रेरक शक्ति के रूप में योगदान था। यद्यपि तदयुगीन परिवेश में आर्थिक दृष्टि से तो सामान्य कोटि के ब्राह्मणों की बहुलता थी, किन्तु कतिपय अत्यन्त समृद्धशाली भी दिखाई देते हैं,[76] जिनकी भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के रूप में धर्म-संघ की आर्थिक समृद्धि में सहभागिता थी।

पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन से प्रत्यक्षतः बौद्ध धर्म की आर्थिक समृद्धि में ब्राह्मणों का अतिशय महत्व नहीं लक्षित होता है किन्तु इन अत्यन्त चिन्तनशील ब्राह्मणों की संघ दीक्षा से अर्थवान वणिक-व्यवसायियों के संघ के प्रति आकर्षण और दान-दक्षिणा देने से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

संघ की परोक्षतः आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से महाकाश्यप, महाकात्यायन, पिण्डोल भारद्वाज जैसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया जा सकता है।[77] इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्पन्न ब्राह्मणों का विवरण भी प्राप्त होता है जिनके द्वारा संघ की प्रत्यक्ष समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टि से कुटदन्त, सोण, लोहिच्च, चंकि, तारुक्ख, जानुस्सोणि और तोदेय्य विशिष्ट उपादेय प्रतीत होते हैं।[78]

क्षत्रिय : प्रशासक

स्वयं गौतम बुद्ध की क्षत्रिय एवं शासक वर्ग से सम्बद्धता का लाभ धर्म-संघ को होने का अनुमान किया जा सकता है। जहाँ अपने आरम्भिक समय में संघ को चण्डप्रद्योत, बिम्बिसार, प्रसेनजित, अजातशत्रु तथा उदयन जैसे प्रतापी शासकों का आश्रय प्राप्त हुआ[79] वहीं अनेक गण-प्रमुखों ने सद्धर्म में श्रद्धा व्यक्त की। इन सबका सुफल था कि राज्याश्रय आदि के प्रभाव में अनेक लोगों ने संघ की आर्थिक सम्पन्नता में महत्वपूर्ण सहयोग किया। स्वयं बिम्बिसार द्वारा बुद्ध सहित भिक्षु संघ को भोजनोपरान्त, वेणुवन-दान का पालि परम्परा में विवरण प्राप्त होता है।[80] प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि यहीं से संघ द्वारा दान-दक्षिणा में आराम-विहार जैसी अचल सम्पत्तियों को स्वीकार करने की परम्परा का शुभारम्भ हुआ। धर्म-संघ को अर्थवान बनाने की दृष्टि से प्रसेनजित की बहन सुमना की महत्वपूर्ण भूमिका प्रतीत होती है। उसने स्वयं जेतवन जाकर भिक्षु-संघ को दरी-धुस्स आदि का दान दिया तथा इसकी दादी के मरणोपरान्त शयनासन की अनेक सामग्री, आसन्दी, पलंग, गोनक आदि भी भिक्षु-संघ को भेंट-स्वरूप प्राप्त हुए।[81]

संघ की आर्थिक वृद्धि में क्षत्रिय-प्रशासक व जन-सामान्य के साथ-साथ स्वयं बुद्ध के परिजनों का भी सहयोग दृष्टिगोचर होता है। इस क्रम में महाप्रजापति गौतमी[82], आनन्द[83], शुद्धोधन, नन्द[84], देवदत्त, राहुल आदि महत्वपूर्ण लगते हैं। बिम्बिसार और उदयन की पटरानियों क्रमशः खेमा[85] और सामावती[86] ने भी अपने सद्प्रयासों से संघ को आर्थिक रूप से समृद्ध

बनाया। जीवक जैसे प्रसिद्ध वैद्य का साहाय्य भी आर्थिक समृद्धि का महत्त्वपूर्ण कारक माना जा सकता है जिसने न केवल जीवकाम्बवन में चंक्रमणशाला आदि का निर्माण करवाकर भिक्षु-संघ को अर्पित किया;[87] अपितु इसके द्वारा अन्य लोगों को, संघ को अनुदान देने हेतु प्रेरित करने का भी अनुमान किया जा सकता है।

वैशाली के लिच्छवी सेनापति सीह की धर्म-संघ की आर्थिक समृद्धि में विशिष्ट भूमिका[88] के साथ ही सरकानि शाक्य, हत्थक आलवक, महानाम शाक्य, वड्ढ लिच्छवि, ओट्ठद लिच्छवि आदि का भी उल्लेखनीय योगदान दिखाई देता है। कोसल प्रदेश के सेतव्या स्वामी पायासि राजञ्य जो कि प्रसेनजित द्वारा प्रदत्त क्षेत्र-विशेष का स्वामी था, की सद्धर्म श्रद्धा भी आर्थिक दृष्टि से उपादेय सिद्ध हुई।[89]

वैश्य : गृहपति

धर्म-संघ की आर्थिक सम्पन्नता में श्रेष्ठि वर्ग का सहयोग सहज कल्पनीय है। यह बौद्ध धर्म के चमत्कारिक प्रभाव का परिणाम था कि वैश्य-गृहपति वर्ग सद्धर्म के प्रति इतना आसक्त हुआ कि उसने अपनी तिजोरियों के मुँह संघ के लिए खोल दिए।

धर्म-संघ की आर्थिक समृद्धि कब से प्रारम्भ हुई, यह विवाद का विषय हो सकता है परन्तु इस प्रक्रिया का सूत्रपात वाराणसी-श्रेष्ठि यश माता-पिता के संघीय उपासक बनने से मानना चाहिए।[90] यहाँ से संघ की आर्थिक समृद्धि में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ और संघ को अर्थ-प्रवण बनाने का प्रयास एक वर्ग-विशेष द्वारा अनवरत रूप से प्रारम्भ हुआ।

काशी-निवासी चित्रगृहपति द्वारा संघ को अम्बाटक वन का दान एवं भिक्षुओं को एकाधिक बार भोजन हेतु आमंत्रण का प्रारम्भिक पालि साहित्य में विवरण प्राप्त होता है। इसके साथ ही संघ को विहारादि प्रदान करने की श्रृंखला प्रारम्भ होती है, जिससे बौद्ध भिक्षुओं के जीवन में स्थायित्व आया और उनमें आवासों में रहने की प्रवृत्ति बलवती हुई, क्षेत्रीयता का भाव जगा और व्यक्तिगत सम्पत्ति का भान हुआ। "राजगह सेट्ठी" द्वारा एकसाथ 60

विहारों का निर्माण करवाकर भिक्षु-संघ को प्रदान करने की आश्चर्यजनक घटना भी घटित होती है। यद्यपि गौतम बुद्ध द्वारा इतने अधिक विहार एकसाथ स्वीकार किए गए होंगे, सन्देहग्रस्त लगता है। इसके अतिरिक्त संख्यात्मक अतिशयोक्ति का भी अनुमान किया जा सकता है। यहाँ के ही कल्याणभन्तिक गृहपति द्वारा भिक्षुओं को प्रतिदिन भिक्षान्न प्रदाय करने की प्रक्रिया को भी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है[91] जिसने राजगृह के भिक्षुओं की चारिका सम्बन्धी समस्या का लगभग निदान कर दिया था।

कपिलवस्तु में गौतम बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर कोसल प्रदेश के सुप्रसिद्ध एवं अति विख्यात श्रेष्ठि अनाथपिण्डक ने न केवल बुद्ध को श्रावस्ती आमंत्रित किया, अपितु कपिलवस्तु से श्रावस्ती तक के मार्ग में अनेक लोगों को बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए विहार बनवाने हेतु प्रेरित भी किया। इसी प्रकार निर्धन लोगों को धन प्रदत्त कर विहारों के निर्माण में भी सहयोग प्रदान किया। श्रावस्ती पहँचकर अनाथपिण्डक ने जेत राजकुमार के जेत-उपवन की सम्पूर्ण भूमि को अनुबन्धानुसार मुद्राओं से अच्छादित, क्रय कर उस पर भव्य विहार का निर्माण करवाया और भोजनोपरान्त उसे भिक्षु संघ को अर्पित किया। प्रारम्भिक पालि परम्परा अनाथपिण्डक के संघ के प्रति किए गए आर्थिक अनुदानों का ससम्मान स्मरण करती है। सम्भवतः यही कारण है कि बद्ध ने दानदाता उपासकों में इसे सर्वोच्च क्रम पर अधिष्ठित किया था।[92] इसके अतिरिक्त श्रावस्ती की ही अति प्रसिद्ध उपासिद्ध उपासिका विशाखा जो कि अंग के सम्पन्न श्रेष्ठि धनंजय की पुत्री एवं श्रावस्ती के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठि निगार के पुत्र पूर्णवर्धन की पत्नी थी, का भी संघ की अर्थ प्रवणता में विशिष्ट स्थान था। संघ की आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ इसने अपने श्वसुर निगार जो कि पहले निगण्ठ अनुयायी था, को सद्धर्म का उपासक बनाया तथा एक अत्यन्त भव्य विहार का निर्माण करवाकर भिक्षु-संघ को भेंट किया,[93] जो कि पालि साहित्य में "मिगारमातु पासाद पुब्बाराम" विहार के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त भी विशाखा ने अनेक प्रकार से संघ की आर्थिक सहायता की, सम्भवतः जिससे प्रभावित

हो बुद्ध ने ''विशाखा'' को उपासिकाओं में अग्रदायिका घोषित किया था।[94]

साकेत के प्रसिद्ध श्रेष्ठि कालक, उसकी पत्नी सुभद्दा द्वारा ''कालकाराम'' का निर्माण करवाकर भिक्षु संघ को दान देना भी अर्थ सम्पन्नता की दृष्टि से महत्वपूर्ण लगता है।[95] इस दृष्टि से कौशाम्बी के श्रेष्ठियों कुक्कुट, घोषित, पावरिक द्वारा भिक्षु संघ को प्रदत्त क्रमशः कुक्कुटाराम, घोषिताराम, पावारिकाम्ब वन एवं विहारों का दान भी उपयोगी कहा जा सकता है।[96]

अंग जनपद के धनी श्रेष्ठि मेण्डक का भी संघ की आर्थिक समृद्धि में महत्वपूर्ण स्थान था। उसने धन-धान्य से भिक्षु संघ की अर्थ सम्पन्नता में योगदान दिया साथ ही धर्म-संघ की बहुविध वृद्धि-समृद्धि में उग्ग गृहपति[97] तथा भद्दिय आदि श्रेष्ठियों की भी भूमिका उपादेय प्रतीत होती है।[98]

उपर्युक्त तथ्यों से प्रतीत होता है कि संघ की आर्थिक समृद्धि में वैश्य-गृहपति वर्ग की प्रधान भूमिका थी तथा उसमें भी गृही उपासकों का अधिक महत्व था। अतः संघ की आर्थिक वृद्धि-समृद्धि में वैश्य-गृहपति वर्ग की मुख्य भूमिका सहज स्वीकार्य है।

निम्न : अन्य

समग्र पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन से सांख्यिक समृद्धि के समान ही आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से भी अन्य वर्गों की तुलना में कम ही सही, अन्य निम्न वर्ग का भी प्रतिनिधित्व मिलता है। इस प्रसंग में वैशाली की राजगणिका आम्रपाली विशेष रूप से उल्लेखनीय है[99] जो कि प्रारम्भ में सद्धर्म की उपासिका बनी थी, कालान्तर में सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर भिक्षुणी बन गई।

बौद्ध धर्म संघ के बहुविध – सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि एवं भौगोलिक विस्तार के सामान्य अध्ययन से प्रायः सुस्पष्ट है कि इसमें समस्त सामाजिक, ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति एवं निम्न-अन्य, वर्गों का न्यूनाधिक योगदान था। जहाँ भौगोलिक विस्तार में प्रायः समस्त वर्गों का सम्मिलित सहयोग लगता है वहीं सांख्यिक समृद्धि में ब्राह्मण वर्ग का वर्चस्व दिखाई देता है, आर्थिक समृद्धि में क्षत्रिय-प्रशासक विशेषकर वैश्य-गृहपति वर्ग का

प्राधान्य था और यह उनके समृद्धिशाली वर्ग के होने के नाते कथमपि अस्वाभाविक भी नहीं लगता। हाँ, सांख्यिक एवं आर्थिक दोनों दृष्टियों से निम्न-अन्य वर्ग का नगण्य उल्लेख मिलता है और यह स्वभाविक भी है। वैसे भी बौद्ध परम्परा प्रायः उन्हीं का ससम्मान स्मरण करती है जो धर्म-संघ की समृद्धि में किसी न किसी रूप में विशेष उपयोगी रहे हों। अतः बौद्ध साहित्य में इनके अनुल्लेख से किसी को विस्मित नहीं होना चाहिए।

संदर्भ-सूची

1. वि०म०, 1.6.17, 5.1.14 और आगे।
2. तुलनीय, मिश्र, जी०एस०पी०, दी एज ऑव विनय, पृष्ठ 114.
3. वि०चु०, 5.21.4.
4. वि०म०, 1.6 और सं०नि०, 56.11.12 (धर्मचक्र प्रवर्तन सुत्त)।
5. सु०नि०, "खग्गविसाण सुत्त", पृष्ठ 8.
6. महाकस्सप, महाकात्यायन आदि अकेले ही संघ-दीक्षित हुए जबकि उरूवेल काश्यप तथा उनके बन्धुओं एवं सारिपुत्र-मौदगल्यायन समूहों के साथ संघ-दीक्षित हुए एवं अनेक लोगों को प्रेरित किया।
7. वि०म० 1.6 और सं०नि० 56.11.12 (धर्मचक्र प्रवर्तन सुत्त)
8. देखें – क्रमशः वि०म०, 1.15, 1.20.19 और अं०नि०, 1.14 (घ, छ)।
9. वि०म०, 1.23 और 24, तुलनीय, - दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 71.
10. अं०नि०, 1.14 (क, 2), सु०नि०, पद्य 556 और आगे, तुलनीय, - सं०नि० 8.6 (सारिपुत्त सुत्त) एवं 17.23 (एकपुत्तक सुत्त भी), म०नि० "अनुपद सुत्त", अं०नि० 7.4.8 (दुतिय परिसम्भिदा सुत्त); रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 259 आदि।
11. वि०चु०, 11.1.1 और आगे।
12. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 45-46, तुलनीय, - दुबे, सीताराम, (सं०) बौद्धयुगीन भारत, पृष्ठ 89 और आगे।
13. सं०नि० (हि०अ०), भाग 1, "पिण्डोल सुत्त।"
14. देखें - क्रमशः दी०नि०, "तेविज्ज सुत्त", तुलनीय - सु०नि०, "वासेट्ठ सुत्त", तथा दत्त नलिनाक्ष एवं बाजपेयी, के०डी०, उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, अध्याय 5, "कोशल के ब्राह्मण।"

15. देखें - अध्याय 3, (संघ के सदस्यों की सांख्यिक विश्लेषण सम्बन्धी तालिका)।
16. - वही - ।
17. - वही - ।
18. सन्दर्भ के लिए देखें - सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 54 तथा 56-57.
19. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 1 (जहाँ पर मगधराज बिम्बिसार द्वारा असंख्य लोगों सहित त्रिशरण-गमन द्वारा उपासक बनना वर्णित है।)
20. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - संघ के सदस्यों का वर्गीकरण एवं सांख्यिक विश्लेषण सम्बन्धी अध्याय 3.
21. चण्डप्रद्योत, बिम्बिसार, प्रसेनजित, अजातशत्रु, उदयन - जैसे तत्कालीन प्रतापी शासकों के बौद्ध उपासक बनने तथा धर्म-संघ की बहुविध वृद्धि-समृद्धि में इनके योगदान के आधार पर यह धारणा बलवती होती है।
22. अं०नि० (हि०अ०) भदन्त आनन्द कौशल्यायन, भाग 1, पृष्ठ 21-27.
23. वि०म०, 1.7.
24. - वही - और 1.8.
25. - वही - और 1.9 व 1.10.
26. वि०म०, 6.23 तथा 6.23.10. और आगे।
27. अं०नि०, (हि०अ०), भदन्त आनन्द कौशल्यायन, भाग 1, पृष्ठ 21-27.
28. - वही - ।
29. देखें - संघ के सदस्यों का वर्गीकरण एवं संख्यात्मक विश्लेषण सम्बन्धी अध्याय 3.
30. - वही - ।
31. अं०नि०, (हि०अ०), भदन्त आनन्द कौशल्यायन, भाग 1, पृष्ठ 23-27.
32. वि०म०, 6.30, दी०नि० "महापरिनिब्बान सुत्त।"
33. अं०नि०, (हि०अ०), भदन्त आनन्द कौशल्यायन, भाग 1, पृष्ठ 24.
34. तुलनीय, - दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 13.
35. वि०म०, 1.11.
36. अं०नि०, 1.14 (च, 1); 6.12.3 (तपुस्स सुत्त); 6.12.4-23 (भल्लिकादि सुत्तानि), वि०म०, 1.4.
37. वि०म०, 1.11; चरन्थ भिक्खवे चारिकम् बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय, सुखाय देवमनुस्सानम्। मा ऐकेन द्वे अगमित्था देसेय भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणे मज्झे कल्यानम् ...." पकासेम् (नालन्दा प्रकाशन)।
38. वि०चु०, 1.13.
39. वि०म०, 6.23 तथा 6.23.10 और आगे।

40. सं०नि०, चित्त संयुत्त, 41.1 और आगे विशेषकर 17.23 (एकपुत्तक सुत्त)। अं० नि० 2.12.3; 4.18.6 (आयाचन सुत्त)।
41. वि०म०, 1.22.6 और आगे; तुलनीय, - मललेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 286 पाद टिप्पणी।
42. वि०म०, 1.23 तथा 24.
43. म०नि०, "जीवक सुत्त", विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 957-58.
44. म०नि०, "सेल सुत्त", सु०नि० "सेल सुत्त", वि०म०, 6.35.
45. दी०नि०, "सोणदण्ड सुत्त"
46. वि०म०, 6.34.
47. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 142, पृष्ठ 129 और आगे।
48. उत्कट्ठ के स्वामी पोक्खरसाति द्वारा अपने शिष्य अम्बट्ठ के माध्यम से बुद्ध की ज्ञान परीक्षा तथा अन्य सम्प्रदायवादियों द्वारा चिंचा द्वारा बुद्ध पर दोषारोपण और सुन्दरिका की हत्या को इसी रूप में देखना चाहिए। (विस्तृत जानकारी के लिए देखें - क्रमशः दि०नि० "अम्बट्ठ सुत्त", थामस, ई०जे०, दी लाइफ ऑव बुद्ध एज लीजैण्ड एण्ड हिस्ट्री, पृष्ठ 11-12, तुलनीय - उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 104-105, सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, पृष्ठ 316-317.
49. प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि बुद्ध की प्रज्ञा एवं उपदेश से तथा उपरिलिखित ब्राह्मणों की प्रेरणा से वेलुवद्वार, विन्देय्य, शाला, वेनागपुर आदि ब्राह्मण ग्राम धर्म-संघ के उपासक बन गए। (स०नि०, 55. 7 (वेलुवन्दारेय्य सुत्त); म०नि० "नागरविन्देय्य सुत्त" और "सालेय्यक सुत्त" तथा अ०नि० 1.7.3 (वेनागपुर सुत्त)।
50. अ०नि०, 4.20.7 "मल्लिकादेवी सुत्त।"
51. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 689-90, जहां अनेक परवर्ती ग्रन्थों के भी उद्धरण दिए गए हैं।
52. - वही - भाग 2, पृष्ठ 522-24.
53. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा, 232.
54. वि०चु०, 5.21 और म०नि०, "बोधि राजकुमार सुत्त।"
55. अंनि०, 1.14 (च, 10); 6.12.4.23 (भल्लिकादि सुत्तानि); 1.14 (छ, 10); 8.10 (साञ्ञवग्ग) आदि।
56. तुलनीय, - राकहिल, डबल्यू.डबल्यू, दी लाइफ ऑव बुद्ध, पृष्ठ 17 और आगे,

देव, शान्ताराम भालचन्द, दी हिस्ट्री ऑव जैन मोनाशिज़्म फ्राम इन्सक्रिप्शन्स एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ 71 और आगे, दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 93 (पाद टिप्पणी)।

57. स०नि०, 35.127 (भारद्वाज सुत्त), उदेन की सद्धर्म में श्रद्धा के लिए देखें - वि०चु०, 11.1.13, बौद्ध धर्म संघ की दृष्टि से उदेन के महत्व के लिए देखें - दत्त, नलिनाक्ष, उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, अध्याय 6.
58. उदाहरण सहित विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 693 आदि।
59. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - अं०नि०, 8.3.3 एवं 8.3.4 (पठम हत्थक सुत्त एवं ततिय हत्थक सुत्त)।
60. थेरी, गाथा, 87.91, रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 43, पृष्ठ 58 और आगे।
61. -वही-, गाथा 92-96, रीस डेविड्स, सिस्टर्स गाथा, 42, पृष्ठ 57 और आगे।
62. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 229, पृष्ठ 238 और आगे।
63. वि०म०, 5.13.
64. स०नि०, 35.1.32 (लोहिच्च सुत्त)।
65. स०नि०, 22.3 (हालिद्दिकानि सुत्त); 22.4 (दुतिय हालिद्दिकानि सुत्त)।
66. वि०म०, 5.13.
67. देखें - उपाध्याय, भरतसिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 488-89.
68. म०नि०, "पुण्णोवाद सुत्त", स०नि० 35.88 (पुण्ण सुत्त); थेर, गाथा 70, रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन गाथा 70.
69. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 157.
70. मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 281.
71. अं०नि०, 1.14 (ग 8) और देखें हिन्दी अनुवाद (आनन्द कौशल्यायन), भाग 1, पृष्ठ 23.
72. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 97.
73. म०नि०, "धातुविभंग सुत्त", परवर्ती विस्तृत उद्धरणों के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 214-16.
74. वि०म०, 8.5 और आगे, वि०चु०, 6.21, आदि।
75. वि०म०, 1.49 (जहाँ कहा गया है कि उपालि एवं उसके मित्रों को उनके अभिभावकों ने सुखप्रद जीवन के लिए संघ -दीक्षित कराया।)।
76. समृद्धिशाली ब्राह्मणों में सोणदण्ड, चंकि, लोहिच्च, जानुस्सोणि, आदि का प्रमुख रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

77. महाकाश्यप स्वयं अर्थ-सम्पन्न थे तथा वे धन का त्याग कर संघ-दीक्षित हुए थे। अतः इनके इस त्याग तथा महाकात्यायन एवं पिण्डोल भारद्वाज के राजपुरोहित-पुत्र होने एवं उनकी प्रज्ञा से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने संघ की आर्थिक सहायता की होगी।

78. देखें - दत्त, नलिनाक्ष, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, अध्याय 5, कौशल के ब्राह्मण।

79. ये समस्त शासक बौद्ध धर्म-संघ के उपासक थे तथा इनसे सम्बद्ध विवरण प्रारम्भिक पालि साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है।

80. वि०म०, 1.22.11 और आगे।

81. वि०चु०, 6.14.

82. अं०नि०, (हिन्दी अनुवाद आनन्द कौशल्यायन), भाग-1, पृष्ठ 23 और आगे।

83. - वही -।

84. - वही -।

85. - वही -।

86. - वही -। (जहाँ स्वयं बुद्ध द्वारा भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिकाओं की वरेण्य सूची में इनके संघ के प्रति किए गए बहुविध सहयोग के कारण इनका उल्लेख किया है।)

87. दी०नि०, ''सामञ्ञफल सुत्त'' (देखें - हिन्दी अनुवाद की पाद-टिप्पणी उद्धृत अट्ठकथा का सन्दर्भ)।

88. वि०म०, 6.31; अं०नि०, 5.4.4 (सीह सेनापति सुत्त)।

89. दी०नि०, ''पायासि राजञ्ञ सुत्त।''

90. वि०म०, 1.7.10. और 1.8.

91. वि०चु०, 4.4.6; वि०टे०, जि० 3, पृष्ठ 10, वि०पि० (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 396.

92. अं०नि० (हिन्दी अनुवाद आनन्द कौशल्यायन), भाग 1, पृष्ठ 26.

93. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - मललसेकर, ज़ी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 2, पृष्ठ 628-29 (मिगारमातु पासाद का सन्दर्भ)।

94. अं०नि०, (हि०अ० आनन्द कौशल्यायन), भाग 1, पृष्ठ 26.

95. अं०नि०, 5.3.4 (कालकाराम सुत्त); मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जि० 1, पृष्ठ 575; अ० व्या०, जि० 2, पृष्ठ 482.

96. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, भाग 1, पृष्ठ 693 आदि।

97. अं०नि०, 8.3.1 (पठम उग्ग सुत्त तथा दुतिय उग्ग सुत्त)।
98. रीस डेविड्स, ब्रेद्रेन, गाथा 142, पृष्ठ 129 और आगे।
99. वि०म०, 6.30, दी०नि० "महापरिनिब्बान सुत्त", सं०नि०, 47.1 (अम्बपालि सुत्त), 52.9 (अम्बपालि सुत्त)।

अध्याय षष्ठ

वैचारिक समृद्धि एवं बौद्ध धर्म-संघ के नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

बौद्ध धर्म के सामान्य अनुशीलन से सुस्पष्ट है कि समय के साथ बौद्ध धर्म संघ की सांख्यिक-आर्थिक अभिवृद्धि के साथ ही वैचारिक पक्ष भी समृद्ध हुआ। यदि बौद्ध धर्म के मूल स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाय तो वह स्वयं बुद्ध और कुछ सीमा तक उनके अनुयायियों के विचारों पर अवलम्बित दिखाई देता है। सारनाथ ऋषिपत्तन मृगदाव में धर्म-चक्र प्रवर्तन[1] के साथ वैचारिक क्रान्ति का जो नवीन युग प्रारम्भ हुआ, वह न केवल गौतम बुद्ध बल्कि उनके निर्वाणोपरान्त धर्म-संघ की विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं में विभाजन के अनन्तर भी चलता रहा। यह वैचारिक समृद्धि का ही प्रभाव था, कि धर्म-संघ विभिन्न निकायों में विभाजित हुआ। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, कि वैचारिक समृद्धि गौतम बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार आर्य-सत्यों पर आधारित थी, कालान्तर का सम्पूर्ण बौद्ध धर्म आर्य-सत्यों का ही प्रायः बहुविध विस्तार था। बुद्ध के साथ ही उनके वैचारिक दृष्टि से परिपक्व एवं दक्ष शिष्यों का भी सद्धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष के विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान लक्षित होता है। सम्भवतः इसी कारण बुद्ध ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में निष्णात भिक्षु-भिक्षुणियों उपासक-उपासिकाओं का ससम्मान स्मरण भी किया है।[2]

सद्धर्म की वैचारिक समृद्धि, क्षेत्र विस्तार, सांख्यिक-आर्थिक अभिवृद्धि, समय और समाज की माँग तथा सद्धर्म के नित-नूतन बदलते स्वरूप के कारण समय-समय पर नियमों में संशोधन- परिवर्द्धन की अपेक्षा हुई और बुद्ध ने उदारतापूर्वक उसे किया भी – वैसे भी प्रत्येक नियम नज़ीर के तौर

पर गठित लगते हैं। नियमों में इस प्रकार के निरन्तर बदलाव की प्रक्रिया के कारण "एको चरो खग्ग विषाण कप्पो"[3] का आदर्श "सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानां तपो सुखं" में परिणत होता दिखाई देता है। लेकिन ऐसा नहीं कि यह दूसरा आदर्श प्रथम का स्थानापन्न हो जाता है बल्कि दोनों साथ-साथ आचरित होते भी दिखाई देते हैं, यही बात अन्य नियमों में भी देखनी चाहिए। यद्यपि वैचारिक समृद्धि अथवा नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन के विकास-क्रम को अन्तिम रूप से ढूँढ़ पाना सम्भव नहीं लगता, किन्तु प्रयास अपेक्षित है और यहाँ वैचारिक समृद्धि एवं नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन के स्वरूप, उसके विकास की प्रक्रिया तथा उसमें समाज के विभिन्न जाति-वर्गों के योगदान के अध्ययन का ही प्रयत्न होगा।

वैचारिक समृद्धि

बुद्ध के विचार ही उनके उपदेशों में व्यक्त होते हैं और वही परिपक्व हो मान्यता प्राप्त कर सिद्धान्त बन जाते हैं। यही बात उनके शिष्यों-प्रशिष्यों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, जो समय-समय पर बुद्ध के विचारजन्य उपदेशों को समृद्ध करते हैं और उनके सैद्धान्तिक परिणति में सहयोग करते हैं। बुद्ध के प्रारम्भिक विचार ही आर्य-सत्य[4] के रूप में बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त बन जाते हैं और पुनः विचारणा तथा चिन्तन-मनन से अन्य वैचारिक पक्षों एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं को जन्म देते हैं। इस प्रकार स्वयं बुद्ध के जीवन में ही उनके एवं उनके शिष्यों के सहयोग से सद्धर्म के वैचारिक एवं सैद्धान्तिक पक्षों में बहुशः विस्तार होता है और वह कालान्तर के सम्प्रदायोपसम्प्रदायों के विभाजन की पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

बुद्ध के उपदेशों तथा भिक्षुओं की दिनचर्य्या के सामान्य अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि संघ की वैचारिक समृद्धि एक क्रमिक विकास का परिणाम थी। भिक्षुओं के जीवन में अध्यात्मचर्य्या एवं चिन्तन-मनन का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[5] उनकी दिनचर्य्या का स्वरूप ही ऐसा था कि वे निरन्तर सद्धर्म के वैचारिक-सैद्धान्तिक पक्षों का अनुशीलन करते दिखाई देते हैं। तीन यामों – प्रथम, मध्य एवं अन्तिम, में विभाजित,

रात्रि में भी भिक्षुओं की ज्ञान-चर्चा हेतु प्रथम एवं अन्तिम याम आरक्षित थे तथा वे केवल मध्य याम में ही शयन कर सकते थे, परन्तु उसमें भी उन्हें सजग होकर सोना अनुमत था ताकि आवश्यकतानुरूप वे तत्काल उठ सकें।[6] यही नहीं, ब्रह्म मुहुर्त में चंक्रमण को भी आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से उपयोगी माना जा सकता है।[7] भिक्षुओं को दैनिक क्रिया-कलापों से निवृत्त होकर त्रिकालगत सहस्र कल्पों का संगायन करना होता था।[8] इसके अतिरिक्त भिक्षुओं का सैद्धान्तिक वाद-विवाद का समय भी निर्धारित था। बौद्ध साहित्य में अध्यात्म-साधना के अन्तर्गत भिक्षुओं को प्रातिमोक्ष-नियमों का अनुपालन तथा श्रेष्ठ कार्यों के प्रति सतर्क रहना और निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर चारों ध्यानों का अभ्यास करना अनुदिष्ट था।[9] साथ ही बुद्धोपदेशित सूत्रों, व्याकरण, गेय्य, गाथा आदि के संगायन का भी विवरण मिलता है।[10]

मानव मनोविज्ञान के अध्ययन से मनुष्यों के क्रिया-व्यापार में परस्पर भिन्नता दिखाई देती है। स्वयं बौद्ध धर्म के अनुयायियों पर भी यह बात लागू की जा सकती है। प्रायः सभी बुद्धोपदेशों के अनुरूप आचरण के प्रति सतर्क रहते हुए भी क्रिया-व्यापार की दृष्टि से परस्पर किञ्चित् भिन्न दिखाई देते हैं। स्वयं बुद्ध भी इससे सहमत प्रतीत होते हैं और उनके मानसिक स्तर के अनुरूप उन्हें उपदेश देने का समर्थन करते हैं।[11] जहाँ कुछ भिक्षु एकान्तप्रिय, व्यक्तिगत चिन्तन और आत्मोत्थान के प्रति अभिलषित दिखाई देते हैं, वहीं कतिपय एकत्र भिक्षुओं के माध्यम से धर्म-संगायन और कुछ संगायित अथवा उपदिष्ट तत्त्वों के प्रति तर्क-वितर्क करते दिखाई देते हैं और कुछ भिक्षु इन सबसे अलग प्रमादी-शिथिलाचारी के रूप में भी उल्लिखित हैं। इस प्रकार स्वयं बुद्ध के समय में ही आचार-व्यवहार की दृष्टि से पाठ-बहुल, ज्ञापन-बहुल, वितर्क-बहुल एवं धर्मबिहारी और शिथिलाचारी जैसे अनेक वर्गों में विभक्त भिक्षुओं का विवरण मिलता है।[12] शिथिलाचारी भिक्षुओं का तो षड्वर्गीय भिक्षुओं के नाम से एक अलग वर्ग ही बन गया था।[13]

निश्चय ही इस प्रकार के भेद-बहुल भिक्षु-संघ तथा अध्यात्मचर्य्या को क्रमिक विकास का परिणाम स्वीकार करना चाहिए। इससे भी संघ में

वैचारिक समृद्धि आई और अनेक विचारों को सिद्धान्त रूप में रूढ़ होने का अवसर मिला तथा अभिरुचि-भेद के साथ सिद्धान्त भेद के प्रति निष्ठा बढ़ी।

इसी प्रकार बुद्ध के विचारों के सामान्य अध्ययन से यह भी विदित होता है, कि उनके उपदेशों को भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण करने और किसी विशेष प्रकार के उपदेश में अभिरुचि रखने वाले भिक्षुओं से असहमत नहीं बल्कि कई अवसरों पर तो ये सद्धर्म के कुछ विशेष क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त भिक्षुओं का अलग से सोपाधि उल्लेख कर उन्हें प्रोत्साहित करते भी दिखाई देते हैं।[14] निश्चय ही इस प्रकार के प्रोत्साहन से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में दक्षता-प्राप्त भिक्षुओं का और उनके अनुयायियों का भी अलग-अलग वर्ग उठ खड़ा हुआ और सद्धर्म के वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि में सहायक हुआ, जिसका यथाप्रसंग उल्लेख होगा।

सद्धर्म की सम्पूर्ण सैद्धान्तिक महत्ता उसके बोधिपक्षीय धर्मो में समाहित है। इसकी विशिष्टता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि स्वयं बुद्ध ने अपने अन्तिम वक्तव्य में अपने शिष्यों को सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मो के अनुपालन का निर्देश दिया और अपनी भावी बौद्ध पीढ़ी के लिए विरासत बताया।[15]

बोधिपक्षीय धर्म

बोधिपक्षीय धर्म के रूप में स्मृति प्रस्थान, सम्यक् प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय बल, बोध्यंग और अष्टांगिक मार्ग को प्रायः परिगणित किया जाता है। यद्यपि बोधिपक्षीय धर्म के समय को लेकर बौद्ध विद्वानों में मत-मतान्तर है। जहाँ विद्वानों का एक वर्ग उसे बुद्धोत्तर मानने का पक्ष-पोषक है,[16] वहीं दूसरा वर्ग उसे स्वयं बुद्ध द्वारा अनुदिष्ट मानता है। ''परिनिर्वाण सुत्त'' से इस दूसरे मत को ही समर्थन मिलता है। अतः सैद्धान्तिक परिणति की दृष्टि से इसे भले ही बुद्धोत्तर माना जाय, किन्तु स्वयं बुद्ध के समय में ही यह अनुदिष्ट था, इसलिए यहाँ इसका अध्ययन अपेक्षित होगा।

स्मृति प्रस्थान

स्मृति प्रस्थानों की संख्या चार है और इन्हें कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना के नाम से जाना जाता है।

कायानुपश्यना – यह कायिक धर्मो के विकास-विस्तार की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वेदनानुपश्यना – इसे सांसारिक यथार्थ भावों सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि से सम्बद्ध माना जाता है।

चित्तानुपश्यना – यह चित्त की चेतनता या जागरूकता है।

धर्मानुपश्यना – पंचनीवरण, स्कन्ध, आयतन संयोजन, बोध्यंग एवं चार आर्यसत्यों के स्मरण या संगायन को ही धर्मानुपश्यना माना गया है।

सम्यक् प्रधान

बौद्ध वाङ्गमय में सम्यक् प्रधान को निर्वाण प्राप्ति के साधन के रूप में उल्लिखित किया गया है तथा इसे पूर्ण-रूपेण शील पर आश्रित बताया गया है। इसकी प्रायः सम्यक् व्यायाम से तुलना की जाती है।

ऋद्धिपाद

ऋद्धिपादों को प्रायः ऋद्धिमान बनने का साधन माना जाता है[17] और इनकी संख्या चार है। चार ऋद्धिपादों में छन्द समाधि प्रधान संस्कार समन्वागत ऋद्धिपाद, वीर्य ऋद्धिपाद, चित्त तथा मीमांसा ऋद्धिपाद का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इन ऋद्धिपादों का कोई स्पष्ट प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है, परन्तु विद्वानों ने प्रायः इसे चमत्कार या प्रातिहार्य प्रदर्शन से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है।

इन्द्रिय-बल

पाँच इन्द्रियों, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा को ही समग्र रूप से बल या इन्द्रिय बल के नाम से अभिहित किया जाता है। कहीं-कहीं पाँच

इन्द्रियों के स्थान पर केवल तीन या चार इन्द्रियों का ही विवरण मिलता है।[18] कतिपय स्थलों पर तो इन्द्रियों का क्रम भी व्यवस्थित नहीं मिलता। परवर्ती काल में उपर्युक्त पाँच के अतिरिक्त उनमें दो अन्य इन्द्रियाँ श्रद्धा और समाधि भी जुड़ गई हैं। अतः' कालान्तर में यह सप्तबल में परिवर्तित हो गया।[19] इन्द्रिय-बल को प्रायः सम्बोध्योन्मुख माना गया है।

बोध्यंग

बोध्यंगों की संख्या सात होने के कारण इन्हें सप्त बोध्यंग के नाम से भी जाना जाता है। ये हैं -- स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, सम्बोधि तथा उपेक्षा।[20] इन्हें सम्बोधिकारक माना जाता है तथा यह पंच-नीवरणों[21] के दुष्प्रभाव से बचने के लिए इनको स्मरण करने का अनुदेश मिलता है।

अष्टांगिक मार्ग

अन्तिम आर्य सत्य दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा को ही अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है। इसमें आठ अंगों का अनुवर्तन है, जिनमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि सम्मिलित हैं। उल्लेखनीय है कि यह अष्टांगिक मार्ग तीन स्कन्धों – प्रज्ञा, शील तथा समाधि में संयोजित है और यह तीनो स्कन्ध – ज्ञान, चारित्रिक शुचिता और चित्त की एकाग्रता से सम्बद्ध हैं। यहाँ इन स्कन्धों में संयोजित विभिन्न अंगों का संक्षिप्त विवरण उपयोगी होगा --

सम्यक् दृष्टि – चार आर्य-सत्यों का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। इनके ज्ञान से सत्य-असत्य, पाप-पुण्य तथा न्याय-अन्याय में भेद करना मनुष्य के लिए सहज हो जाता है।

सम्यक् संकल्प – आकांक्षा एवं हिंसारहित संकल्प ही सम्यक् संकल्प कहलाता है।

सम्यक् वाणी – सत्य, विनम्रता, मृदुतायुक्त वाणी ही सम्यक् वाणी कहलाती है।

सम्यक् कर्मान्त – सद्कर्म ही सम्यक् कर्मान्त कहलाते हैं।

सम्यक् आजीव – जीवनयापन की विशुद्ध प्रणाली सम्यक् आजीव के नाम से जानी जाती है।

सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि का प्रकारान्तर से सप्त बोध्यंगों, इन्द्रियबलों आदि में भी विवरण दिया गया है। वैसे तो स्वयं सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म चतुर्थ आर्य-सत्य दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा, अष्टांग मार्ग का येन-केन-प्रकारेण विस्तार प्रतीत होता है। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने स्वयं अष्टांग मार्ग को ही परवर्ती बताया है, परन्तु यह उपलब्ध साक्ष्यों के प्रकाश में संगत प्रतीत नहीं होता है।

बोधिपक्षीय धर्म के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वैचारिक-सैद्धान्तिक रूप से समृद्ध बुद्धोपदिष्ट मार्ग संयम, पुरूषार्थ, जागरूकता एवं एकाग्रता पर आधारित था तथा उसमें इन तथ्यों का अत्यधिक महत्त्व था। बुद्ध बाह्य आडम्बरों के विरोधी थे, इसीलिए उन्होंने संसार की अतिवादिता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति को पहचानकर घोर सुख और घोर तप दोनों के मध्यवर्ती मार्ग का उपदेश दिया।

वैचारिक समृद्धि

बौद्ध धर्म-संघ की वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि के सामान्य विवेचन से स्पष्ट है कि मूल रूप से तो यह बुद्ध-वचनों पर ही आधारित थी, किन्तु कालान्तर में इससे विभिन्न सिद्धान्तों का अभ्युदय हुआ और जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, धर्म-संघ के विभिन्न निकायों में विभाजित होने पर तो उसमें और वृद्धि हुई तथा बुद्ध के निर्वाणोत्तर भी यह प्रक्रिया निर्बाध रूप से चलती रही। निश्चय ही स्वयं गौतम बुद्ध के काल में और उनके बाद सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण, प्रचार तथा बहुमान्य स्वरूप प्रदान करने के प्रयास में उनके शिष्यों, अनुयायियों का एक बड़ा वर्ग संलग्न था। किन्तु बुद्ध के अनुयायियों की विशाल संख्या को देखते हुए यह अनुमान

कर पाना कि ये किस जाति-वर्ग से सम्बद्ध थे, उनका संघ की वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि में क्या योगदान था, आदि का स्वरूप विश्लेषण बहुत कठिन लगता है। अतः हमने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए गौतम बुद्ध द्वारा वरेण्यों की सूची में प्रशंसित उपाधि प्राप्त विभिन्न सामाजिक वर्गों से सम्बद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं,[22] जिनका कि प्रथम दृष्ट्या इनकी उपाधि के आधार पर संघ की वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि में साहाय्य लगता है, को सारणीबद्ध कर विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

सारणी क्रमांक - 1

बुद्ध द्वारा उपाधि प्राप्त विभिन्न सामाजिक वर्ग

(अ) ब्राह्मण

भिक्षु	नाम	बुद्ध द्वारा प्रदत्त उपाधि
1.	सारिपुत्र	महाप्रज्ञावानों में अग्र
2.	पूर्ण मंत्राणी पुत्र	धर्म-कथिकों में अग्र
3.	महाकात्यायन	संक्षिप्त कहे का विस्तार करने वालों में अग्र
4.	महाकोट्ठित	प्रति सम्पदा ज्ञान प्राप्त करने वालों में अग्र
भिक्षुणी	–	–
उपासक	–	–
उपासिका	–	–

(ब) क्षत्रिय-प्रशासक

भिक्षु	आनन्द	बहुश्रुतों में अग्र
भिक्षुणी	खेमा	महाप्रज्ञावालियों में अग्र

उपासक	–	–
उपासिका	–	–

(स) वैश्य-गृहपति

भिक्षु	सोण कुटिकर्ण	सुवक्ताओं में अग्र
भिक्षुणी	धर्मदिन्ना	धर्मकथा कहने वालियों में अग्र
उपासक	चित्रग्रहपति	धर्मकथिकों में अग्र
उपासिका	उत्तरानन्द माता	ध्यानियों में अग्र

(द) निम्न अन्य

भिक्षु	उपालि	विनयधरो में अग्र
भिक्षुणी	पटाचारा	विनय-धारियों में अग्र
उपासक	–	–
उपासिका	खज्जुत्तरा	बहुश्रुतों में अग्र

तालिका क्रमांक - 2

क्र०	सामाजिक वर्ग	भिक्षु	भिक्षुणी	उपासक	उपासिका	कुल योग
1.	ब्राह्मण	4	–	–	–	4
2.	क्षत्रिय-प्रशासक	1	1	–	–	2
3.	वैश्य-गृहपति	1	1	1	1	4
4.	निम्न-अन्य	1	1	–	1	3
	योग	**7**	**3**	**1**	**2**	**13**

सारणियों से स्पष्ट है कि वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि की दृष्टि से जहाँ ब्राह्मणों में मात्र भिक्षुओं का ही उल्लेख मिलता है, वहीं क्षत्रिय-प्रशासक तथा अन्य निम्न वर्ग में भिक्षुओं के साथ ही भिक्षुणियों का भी उल्लेख है।

जबकि वैश्य-गृहपति वर्ग के भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिकाओं का स्मरण किया गया है।[23] यदि वरेण्य भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं की सूची के आधार पर वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि की दृष्टि से समाज के विविध वर्गों के योगदान पर विचार किया जाय तो संघ की चतुष्परिषद के समग्र सदस्यों ब्राह्मण, एवं वैश्य वर्ग के बराबर चार-चार सदस्य मिलते हैं, जबकि निम्न-अन्य एवं क्षत्रिय-प्रशासक वर्ग की संख्या क्रमशः एक तिहायी (तीन) तथा आधी (मात्र दो) है।[24]

इस प्रकार वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि की दृष्टि से समाज के समस्त वर्गों का न्यूनाधिक प्रतिनिधित्व मिलता है तथा संघ के समग्र सदस्यों की सांख्यिक परिगणना के आधार पर तैयार की गई तालिका में निम्न-अन्य वर्ग की अल्पता के बावजूद वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि की दृष्टि से ब्राह्मणों वैश्यों के बराबर निम्न-अन्य वर्ग के सदस्यों की संख्या का मिलना अत्यन्त विचारणीय है। यद्यपि प्रसंगवश यहाँ उल्लेख कर देना उचित होगा कि "अङ्गुत्तर निकाय" के वरेण्यों की सूची में बुद्ध ने वैचारिक-सैद्धान्तिक दृष्टि से इनकी प्रशंसा नहीं की है, लेकिन उनके द्वारा प्रदत्त उपाधियों से हमने यहाँ इस प्रकार का अनुमान किया है। वे सदस्य जो अन्य दृष्टियों से संघ की समृद्धि में उपयोगी लगते हैं, बुद्ध ने उनकी वरेण्य कहकर प्रशंसा भी की है, परन्तु उनके लिए दी गई सम्मानोपाधियों से वैचारिक समृद्धि का स्पष्ट आभास न होने के कारण मैंने उन्हें अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाया है, यथा – महाकाश्यप, महामौद्गल्यायन आदि। यद्यपि वैचारिक समृद्ध में उनके भी साहाय्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

बौद्ध धर्म संघ के नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

प्राचीन पालि वाङ्गमय में वर्णित संघ में भिक्षु-भिक्षुणियों के जीवन, दिनचर्य्या और विविध विधि-विधानों का पालन, के सामान्य अध्ययन से भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। जहाँ एक ओर वर्षावास में भी इतस्ततः घूमते बौद्ध भिक्षु दिखाई देते हैं, वहीं किसी एक ही आवास में वर्षों तक निवास करते भी दिखाई देते हैं। जहाँ क्षुधापूर्ति हेतु गाँव-गाँव, घर-घर भिक्षाटन करते मिलते हैं, वहीं मठों में भी भोजन बनाने एवं पकाने का उल्लेख भी

मिलता है। इसी प्रकार चतुर्निश्रय पर आधारित भिक्षुओं का जीवन अत्यन्त कठोर लक्षित होता है,[25] वहीं उनके अत्यन्त सुविधाभोगी स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। जहाँ उपोसथ, प्रातिमोक्ष पाठ, वैनयिक कर्म, संघ-कर्म आदि को लेकर भिक्षु बिना किसी नियम के भ्रमित लगते हैं, वहीं इन कृत्यों का अत्यन्त परिनिष्ठित रूप भी मिलता है। परन्तु सामान्य अध्ययन से भ्रमजाल की स्थिति निर्मित करने वाले ये उल्लेख, अपने सूक्ष्म अध्ययन से इन नियमों एवं विविध विधानों में परस्पर एक दूसरे के विरूद्ध लगने वाले परिदृश्यों में ऐतिहासिक विकास क्रम की ओर संकेत करते हैं। विनय पिटक के अध्ययन से तो ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म-संघ की आर्थिक-सांख्यिक समृद्धि, भौगोलिक विस्तार तद्जनित आने वाली कठिनाइयों और उसके समाधान के लिए बुद्ध ने समय-समय पर नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन किया और उससे संघीय जीवन सुव्यवस्थित हो गया। संघ-व्यवस्थापन के आवश्यक अपरिहार्य तत्त्व वर्षावास, प्रवारणा, उपोसथ, प्रातिमोक्ष, वैनयिक एवं संघ-कम्म, विवाद-शमथ आदि प्रकाश में आए। चतुर्निश्रय में समय-समय पर विविध प्रकार के अनेक अतिरेक लाभों का समावेश हुआ।[26] प्रातिमोक्ष पाठ के रूप में तो आचार-विचार, नियमन-संयमन से सम्बद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए करणीय-अकरणीय शताधिक नियमों की सूची मिलती है और ये नियम भी अपने क्रमागत अस्तित्व की सूचना देते हैं। विनय पिटक में तो अनेक नियमों के अस्तित्व में आने से जुड़े प्रकरणों का उल्लेख मिलता है। एक अवसर पर तो भद्दालि के प्रश्न पर बुद्ध का यह स्पष्ट वक्तव्य मिलता है कि जब तक कोई प्रकरण या घटना नहीं होती, "दण्ड कम्म" का निर्धारण उचित नहीं।[27] अतः बौद्ध संघीय कृत्यों, नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन और उसमें विकास की प्रक्रिया तथा समाज के विविध वर्गों का साहाय्य अपने-आप में अध्ययन का अत्यन्त रोचक विषय हो सकता है और यहाँ इन्हीं की विवेचना का प्रयास होगा।

उपोसथ

बौद्ध साहित्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सद्धर्म के आरम्भिक

चरण में उपोसथ का विधान अज्ञात था, किन्तु अल्प समय पश्चात् ही मगधराज श्रेणिक बिम्बसार ने अन्य तैर्थिकों द्वारा सम्पादित होने वाले उपोसथों से प्रभावित होकर, बुद्ध से सद्धर्म में भी इस प्रकार के विधान हेतु आग्रह किया और गौतम बुद्ध ने उसे किञ्चित् संशोधन-परिवर्द्धन के साथ बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक धार्मिक कृत्य के रूप में अनिवार्य बना डाला।[28] शीघ्र ही यह अपने में अनेक संशोधनों-परिवर्द्धनों के साथ बौद्ध भिक्षुओं के क्रियाकलापों के संस्कार-परिष्कार का अत्यन्त प्रभावी घटक और मठीय कृत्य बन गया। अतः यहाँ उपोसथ के स्वरूप उसके परिपालन के क्रिया-विधान तथा उसके विकास के विविध चरणों का अध्ययन अपेक्षित प्रतीत होता है।

चतुर्दशी, पूर्णमासी तथा पक्ष की अष्टमी को सम्पादित होने वाले उपोसथ[29] के विकास-क्रम को ढूँढ़ना तो दुष्कर लगता है, किन्तु इसमें होने वाले संशोधन-परिवर्द्धन के आधार पर इसके विकास-क्रम का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। आरम्भ में उपोसथ के विधान के पश्चात् बुद्ध के निर्देशानुसार उक्त तिथियों में भिक्षु एक स्थान पर एकत्र होकर चुपचाप बैठते थे, किन्तु उपोसथ के अवसर पर धर्मोपदेश-श्रवण की दृष्टि से आने वाले मनुष्यों को इससे निराश होते देख, गौतम बुद्ध ने उपोसथ के अवसर पर धर्मोपदेश की अनुज्ञा दी।[30] यद्यपि इस धर्मोपदेश का स्वरूप क्या था? यह तो स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है, लेकिन लगता है कि उपोसथ सम्पादन के विकसित चरण में प्रातिमोक्ष पाठ[31] इसका आवश्यक अंग बन गया।

प्राप्त सन्दर्भों से यह विवरण भी प्राप्त होता है कि अनेक भिक्षुओं को यह पता ही नहीं रहता था कि उपोसथ कब है और वे उपोसथ प्रारम्भ होने के समय तक वापस नहीं आ पाते थे, इसीलिए भिक्षुओं को उपोसथ की पूर्व सूचना देने का विधान बना।[32] किन्तु स्मरणीय है कि हमें पालि साहित्य में उपोसथ-सम्पादन हेतु तीन तिथियों (चतुर्दशी, पूर्णमासी और पक्ष की अष्टमी) की प्राप्ति होती है। सम्भवतः इन तीन तिथियों में से किन्हीं दो तिथियों में उपोसथ सम्पन्न होता था। सम्भवतः इन तिथियों के आकस्मिक निर्धारण के कारण भिक्षुओं को यह ज्ञात नहीं हो पाता था, कि अमुक तिथि

को उपोसथ है, जिसके कारण वे भिक्षाटन हेतु चले जाते थे। इसीलिए उपोसथ की पूर्व सूचना का नियम निर्मित हुआ।

उपोसथिक कृत्य के सम्पादन के समय आने वाली कठिनाइयों के कारण उपोसथ- स्थल की सीमा आदि के निर्धारण की आवश्यकता हुई। इस सीमा के निर्धारिक के रूप में वन, पर्वत, वृक्ष, नदी आदि का समावेश मिलता है।[33] इस प्रकार की सीमा-निर्धारण के पीछे दो प्रकार के तत्त्व कार्य कर रहे थे – एक तो पास-पड़ोस में रहने वाले बौद्ध भिक्षु अलग-अलग उपोसथ न मनाएँ, क्योंकि ऐसे में परस्पर विवाद और मनोमालिन्य की आशंका हो सकती थी। प्रसंगवश षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा उपोसथ के लिए सीमा के भीतर सीमा बनाए जाने की प्रवृत्ति का बुद्ध द्वारा वर्जना का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है[34] और दूसरे उपोसथ का यह स्थल ऐसा होना चाहिए कि जहाँ भिक्षु बिना किसी कठिनाई के सरलतापूर्वक उपस्थित हो सकें। इस प्रकार के दूसरे अनुमान को स्वयं बौद्ध साहित्य से समर्थन भी मिलता है। यथा – एक बार षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा उपोसथ के लिए पाँच-छह योजन दूरी की सीमा बना देने से बुद्ध उसकी निन्दा करते हैं और इसी अवसर पर अधिकतम तीन योजन दूरी की सीमा का निर्देश देते हैं। षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा उपोसथ केन्द्र की सीमा-निर्धारण के पश्चात् सीमा के भीतर पुनः सीमा निर्धारित करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिसका निषेध करते हुए बुद्ध ने सीमा के भीतर सीमा निर्धारित नहीं करने का नियम बनाया।[35] उपोसथ-केन्द्र की सीमा-निर्धारण के पश्चात् एक निश्चित उपोसथागार अथवा उपोसथ-स्थल का विवरण मिलता है, जिसके अनुसार सर्वसम्मति से उचित उपोसथ- स्थल के चयन का विधान बनता है। उपोसथागार के रूप में विहार, अटारी, प्रसाद तथा हर्म्य या गुहा की अनुशंसा ज्ञात होती है।[36]

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, उपोसथ की महत्ता दिनानुदिन बढ़ती गई। उपोसथ के बढ़ते महत्त्व एवं भिक्षुओं की संख्या-वृद्धि के कारण उपोसथ सम्बन्धी नवीन नियमों की स्थापना हुई। उपोसथ सम्बन्धी उपलब्ध नियमों से बौद्ध संघ तथा उसमें उपोसथ की समृद्ध अवस्था का भान होता

है। यद्यपि उपोसथ सम्बन्धी सभी नियम स्वयं बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट होने में संशय लगता है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि बौद्ध भिक्षुओं के जीवन का उपोसथ अनिवार्य अंग बन गया था। एक-दो अपवादों को छोड़कर बौद्ध भिक्षु उपोसथ का पालन करते भी दिखाई देते हैं। यद्यपि स्वयं बुद्ध के जीवन तक उपोसथ का परिपालन कभी बन्द हुआ हो, ऐसा नहीं दिखाई देता है; हाँ, एक-दो अवसरों पर उपोसथ पालन के आनुषंगिक कर्म प्रातिमोक्ष पाठ के संकोचन का अवश्य विवरण मिलता है। इस दृष्टि से कोसल में सबरों के भय से भिक्षुओं द्वारा प्रातिमोक्ष पाठ की विस्तृत आवृत्ति नहीं कर पाने का उल्लेख किया जा सकता है।[37] तब विघ्न-बाधा के कारण बुद्ध ने प्रातिमोक्ष पाठ के संक्षिप्तीकरण की अनुमति दी। यद्यपि षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा बिना किसी उचित कारण के भी प्रातिमोक्ष पाठ के संकोचन का विवरण मिलता है। इसका अन्य सुविधाभोगी भिक्षुओं द्वारा भी अनुसरण किया जाना असम्भव नहीं लगता। सम्भवतः इसी कारण इस प्रकार की प्रवृत्ति से बचने के लिए उपोसथ के समय किए जाने वाले प्रातिमौक्ष पाठ के संक्षेपीकरण के लिए बुद्ध को दस आवश्यक परिस्थितियों – राज-बाधा, चोर-बाधा, अग्नि-बाधा, उदक-बाधा, मनुष्य-बाधा, अमनुष्य-बाधा, हिंसक जन्तु-बाधा, सरीसृप-बाधा, जीवन-बाधा, ब्रह्मचर्य-बाधा का निर्देश देना पड़ा तथा इसके अतिरिक्त पाठ-संकोचन दोषावह माना गया।[38] इसके अतिरिक्त उपोसथागार की स्वच्छता एवं प्रकाश व्यवस्था से सम्बद्ध, झाड़ू लगाने, आसन बिछाने तथा दीपक जलाने आदि नियमों का विवरण मिलता है।[39]

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि उपोसथ के सम्पादन में समस्त भिक्षुओं का उपस्थित रहना अनिवार्य था, रुग्णावस्था में इससे छूट अवश्य थी, किन्तु महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर छन्द या परिशुद्धि के माध्यम से रुग्ण भिक्षु की सम्मति जानने का प्रयास किया जाता था या फिर संघ को स्वयं रुग्ण भिक्षु के पास जाना होता था। मानसिक रूप से अस्वस्थ (पागल) भिक्षु को उपोसथ-कर्म से विरत रखने का नियम ज्ञात होता है, परन्तु इस पर संघ में मतैक्य होना आवश्यक था।[40] उपोसथ के लिए आवश्यक भिक्षुओं

की संख्या सम्बन्धी विधानों के निर्धारण से तो ऐसा लगता है, कि यह पूर्ण रूप से संघीय व्यवस्था से अनुचालित था, जिसमें सदस्यों की उपस्थिति का विशेष महत्त्व था। यही कारण है कि भिक्षुओं की अल्प संख्या दो या तीन होने के उपरान्त भी शुद्धि वाला उपोसथ अनुमत था। यही नहीं भिक्षु के स्वयं अकेले होने पर उसे उपोसथ प्रक्रिया के संकल्प का सम्पादन करना आवश्यक था।[41] किसी भी स्थिति में एक ही उपोसथागार में दो उपोसथों के सम्पादन की अनुमति नहीं थी। आगन्तुक एवं आश्रमवासी भिक्षु परस्पर सहमत हों, तो एक-साथ अन्यथा जिनकी संख्या कम हो उन्हें उपोसथागार के बाहर जाकर उपोसथ करना अनुमत था। कालान्तर में उपोसथ के अवसर पर भिक्षुओं द्वारा स्वयं की दोष-देशना का भी विवरण प्राप्त होता है।[42] परन्तु इसे अत्यन्त विकसित अवस्था से सम्बद्ध करना ही उचित लगता है और यह दोष स्वीकार करने की प्रक्रिया उपोसथ-पूर्व सम्पादित की जाती थी तथा दोषी भिक्षु को प्रातिमोक्ष- पाठ के अवसर पर उपस्थित रहना निषिद्ध था। कतिपय प्रसंगों में उपोसथ के अवसर पर उपासक-उपासिकाओं की उपस्थिति भी दिखाई देती है, लेकिन उपोसथ में उपासक-उपासिकाओं की इस प्रकार की उपस्थिति को उपोसथ के विकसित चरण का द्योतक स्वीकार करना चाहिए।

वर्षावास

बौद्ध साहित्य के सामान्य विवेचन से सुस्पष्ट है कि सद्धर्म के आरम्भिक चरण में तो वर्षावास का विधान अज्ञात था, परन्तु कालान्तर में अन्य सम्प्रदायों के अनुसरण एवं सामाजिक दबावों के कारण बौद्ध संघ में वर्षावास का विधान निर्मित हुआ।[43]

भिक्षुओं के वर्षावास हेतु दो तिथियों का निर्देश मिलता है। प्रथम वर्षावास आषाढ़ी पूर्णिमा के द्वितीय दिवस से तथा द्वितीय वर्षावास भाद्रपद के प्रथम दिवस से प्रारम्भ होना अनुमत था।[44] प्राप्त सन्दर्भों से ऐसा लगता है, कि वर्षावास के आरम्भिक चरण में विस्तृत नियमोपनियमों का अभाव था। यही कारण था कि कतिपय भिक्षु वर्षावास की अवधि के दौरान भी

यत्र-तत्र विचरण करते रहते थे, जिसे व्यवस्थित करने के उद्देश्य से बुद्ध ने किसी भी तिथि से वर्षावास प्रारम्भ करने के पश्चात् तीन माह तक विचरण पर प्रतिबन्ध लगाया।[45] कतिपय भिक्षुओं द्वारा वर्षावास आरम्भ होने की तिथियों पर आवास छोड़ देने का विवरण प्राप्त होता है, जिससे कि उन्हें वर्षावास न करना पड़े। इसके निषेध हेतु वर्षोपनायिका के दिन आवास नहीं छोड़ने का नियम भी अस्तित्व में आया।[46]

वर्षावास एक दीर्घ अवधि (तीन मास) तक चलने वाली प्रक्रिया थी, परन्तु विपरीत परिस्थितियों में इसे सात दिनों तक शिथिल करने की अनुमति भी ज्ञात होती है। यदि किसी भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका, श्रामणेर-श्रामणेरी या शिक्षमाणा से सम्बन्धित कोई कार्य हो और उसने भिक्षुओं को आमंत्रित किया हो तो आमंत्रित भिक्षु सात दिवस के लिए वर्षावास की अवधि तोड़कर जा सकता था, किन्तु एक सप्ताह के भीतर कार्य-निष्पादन पश्चात् उसका लौटना आवश्यक था।[47] उल्लेखनीय है कि इस नियम का प्रादुर्भाव उदयन नामक उपासक के आग्रह पर हुआ था। कालान्तर में इसमें और भी संशोधन-परिवर्धन हुए तथा बिना सन्देश या आमंत्रण के भी भिक्षुओं को वर्षावास सात दिवस के लिए तोड़ना अनुमत हुआ। किन्तु यह उसी स्थिति में सम्भव था जब कोई भिक्षु रोगी हो तथा अन्य कोई भिक्षु उसकी सहायता हेतु जाना चाहता हो।[48] भिक्षुओं के पारिवारिक सदस्यों के अस्वस्थ होने की दशा में भी उक्त सुविधा के उपयोग, की अनुमति थी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ विशेष परिस्थितियों –जंगली जानवरों के भय, चोर, पिशाच, डाकुओं के भय से, अग्निकाण्ड, जलावृष्टि, ग्रामीणों के प्रतिकूल व्यवहार, संघ-भेद की आशंका, आदि से भी वर्षावास तोड़ना अनुमत था।[49]

इसके अतिरिक्त जिस गाँव में भिक्षुओं द्वारा वर्षावास व्यतीत किया जा रहा है, यदि विषम परिस्थितियों में वह गाँव उजड़ जाता है तथा सम्पूर्ण ग्राम दूसरे स्थान पर जाकर बस जाता है, तो ऐसी स्थिति में भिक्षुओं को वर्षावास तोड़कर ग्रामीणों के साथ जाना नियमोचित माना गया है।[50] यही नहीं अपवादस्वरूप ही सही, एक-दो उद्धरणों से ऐसा आभास होता है कि

यायावर परिवारों के साथ भी वर्षावास व्यतीत करने की अनुमति थी। इस दृष्टि से कतिपय भिक्षुओं का यायावर ग्रामों एवं ग्रामों के समूह के साथ-साथ तथा सार्थवाहों के साथ वर्षावास व्यतीत करने को[51] उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। बौद्ध साहित्य में वर्षावास की दृष्टि से कुछ अनुपयोगी स्थलों का भी विवरण मिलता है। ऐसे स्थलों में वृक्ष के कोटर, वृक्ष-वाटिका, खुले मैदान, मुर्दाघर, छप्पर तथा चाटी, आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।[52]

प्रवारणा

वर्षावासकृत दोषों के निवारण के लिए वर्षावास के अन्त में प्रवारणा का आयोजन होता था, जिसमें भिक्षु समूह में सम्मिलित होकर अपने अपराधों (दोषों) को स्वीकार करते थे जिसे प्रवारणा कहा जाता था। इसका आयोजन भी चतुर्दशी और पूर्णिमा के दिन नियत था।[53] प्रवारणा का सम्पादन दो भिक्षुओं तक के संघ में अनुमत था, किन्तु एकमात्र भिक्षु होने पर केवल अधिष्ठान अर्थात् प्रवारणा के संकल्प की अनुमति थी।[54] प्रत्येक उपस्थित भिक्षु अपने अपराधों के लिए उकड़ू बैठ हाथ जोड़कर आवुस या भन्ते के तीन बार सम्बोधन के माध्यम से प्रवारणा-कर्म का निवेदन करता था।[55] ऐसा लगता है कि वर्षावास के अन्त में सम्पादित होने वाला प्रवारणा कर्म भिक्षुओं की आत्म-शुद्धि का स्वतः स्फूर्त मार्ग था, जिसके माध्यम से वे स्वयं को शुद्ध कर सकते थे। इसके अतिरिक्त ध्यान तथा आवास आदि की अनुकूलता की दृष्टि से प्रवारणा तिथि को चतुर्मास की कौमुदी पूर्णिमा तक बढ़ाए जाने का विधान मिलता है।[56]

प्रातिमोक्ष

उपोसथ, वर्षावास आदि की तरह प्रातिमोक्ष भी अन्य धर्म-सम्प्रदायों के अनुसरण में स्वीकार किया गया एक विधान था,[57] जिसमें बौद्ध भिक्षुओं के नियमन-संयमन से सम्बद्ध नियमोपनियमों का संगायन किया जाता था। मूल प्रातिमोक्ष के स्वरूप एवं संख्या का निर्णय तो कठिन है, परन्तु विभिन्न

निकायों में स्वीकृत नियमों से इसके बारे में किञ्चित् अनुमान किया जा सकता है। प्रातिमोक्ष सम्बन्धी अध्यायों से ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में इनकी संख्या मात्र एक सौ पचास थी[58] किन्तु संघ की सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि तथा कठिनाइयों के निवारण के निमित्त इनकी संख्या बढ़ती गई।

प्रातिमोक्ष पाठ के सम्यक् विश्लेषण के आधार पर उसे आठ भागों-- पाराजिक, संघादिसेस, अनियत, निस्सगिय, पाचित्तिय, पाटिदेशनीय, सेखिय तथा अधिकरण शमथ में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें भिक्षुओं से सम्बद्ध किया जाता है। भिक्षुणियों के लिए पृथक् से प्रातिमोक्ष पाठ के विधान का विवरण मिलता है, जो कि भिक्षुओं के प्रातिमोक्ष पाठ के समान ही है, परन्तु उसमें "अनियत" सम्मिलित नहीं है[59] अर्थात् उनकी संख्या सात है। इनके अन्तर्गत भिक्षु-भिक्षुणियों के करणीय-अकरणीय तथा निषिद्ध कर्मों के प्रति अनुमत दण्डों का विधान मिलता है।

प्रातिमोक्ष पाठ का संगायन उपोसथ के अवसर पर अनुमत था।[60] अतः जैसा कि पूर्व ज्ञात है कि उपोसथ का विधान चतुर्दशी, पञ्चदशी और पक्ष की अष्टमी को निश्चित था, उसी अवसर पर इसका संगायन होता था। कालान्तर में यह उपोसथिक कृत्य का अनिवार्य अङ्ग बन गया। विभिन्न भागों में विभाजित प्रातिमोक्ष पाठ के प्रत्येक भाग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के दोष सम्मिलित थे। इन दोषों को उपोसथिक कृत्य में तीन बार प्रकाशित करने और दोषी भिक्षु को अपने दोष को स्वीकार करने का निर्देश था।[61] प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि कोई भी भिक्षु अन्य भिक्षु पर अवकाश लेकर दोषोरोपण कर सकता था, किन्तु रोगी आदि के विरूद्ध ऐसा करना निषिद्ध था। दोष प्रमाणित हो जाने पर यथोचित दण्ड का विधान था। इस प्रकार के नियमों का भिक्षुओं द्वारा दुरुपयोग किया जाना सहज सम्भाव्य है। पाराजिक एवं संघादिसेस जैसे महत्त्वपूर्ण दोषों -- मैथुन, चोरी, मनुष्य-हत्या, दिव्य-शक्ति का दावा तथा कामासक्ति, कुटी-निर्माण, संघ-भेद, कुलों के बिगाड़ने सम्बन्धी, आदि घृणित अपराधों के दण्ड-निर्देश के फलस्वरूप संघ-निष्कासन एवं परिवास का अनुदेश था।[62]

इस प्रकार प्रातिमोक्ष पाठ को संघ की व्यवस्थापक प्रणाली के रूप में

स्वीकार करना चाहिए जिसमें अपराध होने पर दण्ड का विधान भी था।

वैनयिक कर्म

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है बौद्ध धर्म-संघ का सत्वर गति से विकास हुआ। सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि के साथ बौद्ध धर्म-संघ को व्यवस्थित एवं संगठित बनाए रखने के लिए अनुशासन आवश्यक हो गया और इसकी पूर्ति के लिए नज़ीर के तौर पर समय-समय पर अनेक वैनयिक कर्मों का विधान बना। "विनय चुल्लवग्ग" के अध्ययन से सप्त वैनयिक कर्म -- तर्जनीय, निस्सय, प्रव्राजनीय, प्रतिसारणीय, तीन उत्क्षेपणीय, पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है।[63] भिक्षुओं को इनका पालन अनिवार्य था और उल्लंघन करने पर तर्जनीय नाम वाले दण्ड की व्यवस्था थी, जिनका विश्लेषण यहाँ अनावश्यक न होगा।

तर्जनीय कर्म

तर्जनीय कर्म एक प्रकार का दाण्डिक विधान था। यह सर्वप्रथम षड्वर्गीय भिक्षुओं के अन्तर्गत परिगणित पाण्डुक एवं लोहितक नामक भिक्षुओं को लेकर प्रथम बार प्रकाश में आया।[64] इस व्यवस्था के अन्तर्गत दोषी भिक्षुओं को अपने कृत-दोषों को त्रिवचन द्वारा संघ के सम्मुख स्वीकार करना पड़ता था। ऐसे दोषी भिक्षु को निम्नलिखित अठारह कर्म - उपसम्पदा देने, निश्रय देने, श्रामणेर से सेवा कराने, जिसके लिए दण्ड दिया गया है, वह कार्य पुनः करने, और उससे अधिक करने, भिक्षुणियों को स्वेच्छा से या संघानुमति से उपदेश देने, फैसला करने वालों की निन्दा करने, किसी दण्डित भिक्षु के उपोसथ को स्थगित करने, प्रवारणा स्थगित करने, बात बोलने लायक काम करने, निन्दा को स्थापित करने, अवकाश करने, प्रेरणा करने, स्मरण करने, भिक्षुओं के साथ सम्प्रयोग करने, आदि निषिद्ध थे।[65] इसके साथ ही उक्त निर्दिष्ट कार्यों के समुचित अनुपालन पर संघीय सहमति से क्षमा कर देने की व्यवस्था थी।[66]

निस्सय कर्म

यह दण्ड सद्धर्म में सर्वप्रथम सेय्यसक नामक भिक्षु के कारण प्रकाश में आया।[67] इसका विधान भी तर्जनीय कर्म के समान दिखाई देता है। यह भी उन्हीं व्यक्तियों के लिए था, जो त्रिरत्न-निन्दक, विवाद करने वाले, प्रतिकूल गृहस्थों से संसर्ग रखने वाले थे। इस दण्ड से दण्डित भिक्षु को तर्जनीय कर्म से दण्डित भिक्षु के समरूप आचरण विहित था।

प्रब्राजनीय कर्म

दुराचारी, कुत्सित-वृत्तिचारी, पापाचारी, अनाचारी गृहस्थों के संसर्ग में रहने वाले निन्दक, संघ-भेदक जैसे भिक्षुओं के लिए प्रब्राजनीय कर्म की व्यवस्था थी। ऐसे भिक्षु-भिक्षुणियों को उनके आवास से निष्कासित कर,[68] ऊपर उल्लेख किए जा चुके नियमों के अनुसार आचरण करने हेतु प्रेरित किया जाता था। यह सर्वप्रथम कीटागिरि-निवासी कुत्सित प्रवृत्ति वाले अश्वजित एवं पुनर्बसु नामक भिक्षुओं को लेकर विधानित हुआ।[69]

प्रतिसारणीय कर्म

संघ-भेदक, संघ-निन्दक तथा उपासकों के प्रति कल्याण-भाव न रखने वाले भिक्षुओं के लिए प्रतिसारणीय कर्म का निर्देश था। ऐसे भिक्षुओं के लिए, तर्जनीय दण्ड-प्राप्त भिक्षु के समान आचरण तो करना होता था, साथ ही अपने कृत अपराधों के लिए उपासकों से क्षमा-याचना भी करनी होती थी। क्षमा-याचना के प्रसंग में अनुदूतक (साथी भिक्षु) का उपयोग भी विहित था।[71]

प्रसंगवश यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे भिक्षुओं के लिए उपासकों को लाभ-सत्कार न देने का सुझाव था। ठीक इसके विपरीत संघ-भेदक, संघ-निन्दक और भिक्षुओं के प्रति दुर्भावना रखने वाले उपासकों के पास भी भिक्षुओं को भिक्षादि के लिए न जाने का निर्देश था। प्रतिसारणीय कर्म का यह विधान वढ्ढ लिच्छवि को लेकर लागू हुआ लगता है।[72]

उत्क्षेपणीय कर्म

आपत्ति न देखने, आपत्ति का प्रतिकार न करने, तथा बुरी धारणा न छोड़ने वाले भिक्षुओं के लिए उत्क्षेपणीय कर्म का विधान था।[72] ऐसे भिक्षुओं का अन्य भिक्षुओं से मेल-मिलाप तथा खान-पान निषिद्ध था। इनमें से प्रथम दो आयुष्मान छन्न तथा अन्तिम उत्क्षेपणीय कर्म गन्थबाधि पुब्ब नामक भिक्षु को लेकर प्रकाश में आया।[73]

इसके अतिरिक्त पालि साहित्य में प्रकाशनीय कर्म एवं ब्रह्मदण्ड का उल्लेख भी मिलता है। प्रकाशनीय कर्म सर्वप्रथम देवदत्त को लेकर अस्तित्व में आया था। इस कर्म में भिक्षुओं के द्वारा किए गए दोषों को उपासकों में प्रचार-प्रसार की अनुज्ञा थी। इस प्रकार की अनुज्ञा के पीछे सम्भवतः यह मंशा थी कि किसी दुराचारी भिक्षु के दोष को लेकर संघ को न दोषी ठहरा स्वयं उस भिक्षु को दोषी माना जाय और तदनुरूप आचरण किया जाय। ब्रह्मदण्ड छन्न नामक भिक्षु को लेकर सर्वप्रथम संगीति के अवसर पर प्रकाश में आया।[74] यद्यपि छन्न को दण्डित करने के पीछे कारक तत्त्व तो नहीं ज्ञात होता लेकिन दण्ड के स्वरूप को देखते हुए ऐसा लगता है कि यह एक प्रकार का सामाजिक बहिष्कार था जिसमें दोषी भिक्षु से बोलना, उसके साथ रहना आदि सर्वथा वर्जित था।

संघ एवं संघ-कर्म

सामान्यतया तो संघ में स्थानीय एवं चातुदिस्स भिक्षु-संघ का भाव निहित है और यही इसके दो प्रकार हैं, जिनमें स्थानीय भिक्षु संघ के साथ केन्द्रीय भिक्षु संघ के भाव का समावेश है। इस चातुदिस्स भिक्षु संघ का ही सैद्धान्तिक रूप से भिक्षुओं के दैनिक जीवन में प्रयुज्य कुछ वैयक्तिक उपकरणों को छोड़कर शेष मठीय सम्पत्ति पर इसी का आधिपत्य था। इस प्रकार चातुदिस्स भिक्षु-संघ सर्वाधिक प्रभावशाली था।[75] किन्तु यह स्थानीय और चातुदिस्स भिक्षु संघ की अवधारणा क्रमिक विकास का सुफल है। भिक्षुओं के दैनिक जीवन में नित्य-प्रति सम्पादित होने वाले आवश्यक क्रियाकलापों के सम्पादन के लिए भिक्षुओं की अलग-अलग संख्याओं का

पालि वाङ्गमय में उल्लेख मिलता है। भिक्षुओं में उठने वाले विवादों के शमन के लिए भी अनेक उपयुक्त विधानों का सन्दर्भ मिलता है। इसी प्रकार मठीय कृत्यों के व्यवस्थापन एवं समुचित देखभाल के लिए अनेक योग्य अधिकारियों की नियुक्ति की बात दिखाई देती है। निश्चय ही ये सब विकास के सुफल हैं। यद्यपि इनमें सुनिश्चित पूर्वापर क्रम ढूँढ़ पाना तो सम्भव नहीं, किन्तु उपलब्ध विवरणों से इनका स्वरूपगत विवेचन सम्भव है और इसी का यहाँ प्रयत्न होगा।

चतुर्वर्ग भिक्षु संघ – यह चार भिक्षुओं का समूह होता था जिसे "चतुर्वर्ग भिक्षु संघ" के नाम से अभिहित किया जाता था। यह उपसम्पदा, प्रवारणा तथा आह्वान को छोड़कर शेष सभी कार्य सम्पादित कर सकता था।

पंचवर्ग भिक्षु संघ – पाँच भिक्षुओं का समूह "पंचवर्ग भिक्षु संघ" कहलाता था। इस संघ को मज्झिमा जनपद में उपसम्पदा और आह्वान को छोड़कर शेष सभी कार्य करना अनुमत था।

दसवर्ग भिक्षु संघ – यह दस भिक्षुओं का समूह था जो "दसवर्ग भिक्षु संघ" के नाम से जाना जाता था। इस संघ को मात्र आह्वान को छोड़कर शेष समस्त कार्यों को सम्पादित करना अनुमत था।

विंशतिवर्ग भिक्षु संघ – जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह बीस भिक्षुओं का संघ था जिसे समस्त प्रकार के कार्यों का सम्पादन विहित था।

विंशातिरेक भिक्षु-संघ – यह बीस से अधिक भिक्षुओं का संघ था। यह भी विंशातिवर्ग भिक्षु-संघ के समान समस्त कृत्य सम्पादन के अधिकारों से सम्पन्न था।

यद्यपि यह आश्चर्यजनक लगता है कि जब पूर्व से ही विंशतिवर्ग भिक्षु संघ समस्त प्रकार के कार्यों के सम्पादन में सक्षम था, तो इसके उपरान्त भी विंशातिरेक भिक्षु-संघ की आवश्यकता क्यों हुई ? सम्भवतः इसकी पृष्ठभूमि में समग्र भिक्षु-संघ की अवधारणा के अनुमान के साथ ही अन्य भिक्षु- संघों द्वारा सम्पादित कृत्यों की समीक्षादि तथा पक्षपातपूर्ण कार्यवाही के निदान हेतु इसका विधान किया गया लगता है।

उपर्युक्त वर्णित समस्त प्रकार के भिक्षु-संघों[76] के द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कृत्यों हेतु भिक्षुओं की यह न्यूनतम संख्या थी, कम होने पर गण-पूर्ति का विधान था और यह गण-पूर्ति भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर-श्रामणेरी, आदि से भी की जा सकती थी।[77] किन्तु इसमें चौबीस प्रकार के दोषयुक्त भिक्षु-भिक्षुणियों का समावेश वर्जित था।[78] उल्लेखनीय है कि गण-पूर्ति के बाद भी सम्पादित कार्यों का महत्त्व तभी था, जब स्थानीय सीमावासी भिक्षुओं की समग्र संख्या स्वयं या छन्द के माध्यम से उसे अनुमोदित न कर दे।[79]

सामान्यतः तो संघ कर्म में केशोच्छेदन, उपसम्पदा, उपोसथ, पवारणा, प्रातिमोक्ष, आदि कृत्यों का ही समावेश किया जाता है, परन्तु संघ की विकसित अवस्था में मठीय कृत्यों के सुचारु-निष्पादन के लिए विशिष्ट अधिकारियों की नियुक्ति हेतु व्यवस्था की गई थी।

विवाद शमथ

विवादों का शमन ही "विवाद शमथ" कहलाता है। प्रातिमोक्ष के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के विवादों – तर्जनीय, निस्सय, प्रब्राजनीय तथा प्रतिसारणीय कर्म, के शमन हेतु विभिन्न कारकों के अन्तर्गत छह प्रकार के विनयों का उल्लेख मिलता है;[80] जिनमें प्रथम ***सम्मुख विनय*** के नाम से जाना जाता है। संघ के सामने या फिर आरोपी और आरोपित एक दूसरे के सम्मुख अपने विवाद हल करते थे और यही प्रक्रिया सम्मुख विनय कहलाती थी। यदि किसी भिक्षु-भिक्षुणी के ऊपर लगाए गए आरोपों को वह स्वीकार नहीं करता है और संघ के सम्मुख स्वयं को निर्दोष बताता है, तो यह ***स्मृति विनय*** कहलाता है। इस दृष्टि से दर्भमल्लपुत्र पर मेत्तिया भिक्षुणी द्वारा रोपित मैथुन सम्बन्धी मिथ्यारोप और दर्भमल्लपुत्र द्वारा उसके प्रत्याख्यान को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है[81] और यही प्रकरण स्मृति विनय के प्रारम्भ का कारण बना। तृतीय विनय के रूप में *अमूढ़* विनय का उल्लेख मिलता है। इससे आशय यह है कि यदि किसी भिक्षु ने विक्षिप्तावस्था में अपराध किया हो और उसे अपने कृत अपराध का बोध न हो तो उसे

अमूढ़ विनय प्रदान किया जा सकता है। गर्ग भिक्षु के पागल होने के प्रसंग में इसका विधान सामने आया।[82] किसी संघीय सदस्य द्वारा स्वयं के ऊपर लगे आरोपों को स्वीकार करना प्रतिज्ञातकरण शमथ कहलाता है।[83]

भिक्षुओं के मध्य के विवाद उद्वाहिका के माध्यम से भी हल न होने की स्थिति में शलाकाग्रहण (बहुमत) के माध्यम से होता था जिसे ***यद्भूयसिक*** (मताधिक्य) कहा जाता था। इसके अतिरिक्त उबाल नामक भिक्षु के माध्यम से अस्तित्व प्राप्त ***तत्पापीयसिक*** नामक कर्म का भी उल्लेख मिलता है।[84] इसके अन्तर्गत किसी भिक्षु के द्वारा अपने दोष को जानबूझकर छिपाने और अपने हित की पुष्टि के लिए वितण्डावाद का सहारा लेने पर संघ को सम्मिलित रूप से उसके दोषों की विवेचना कर उसे विश्वास दिलाते हुए तत्पापीयसिक कर्म करने का निर्देश था।[85]

इसके अतिरिक्त ***तिणवत्थारक*** का सन्दर्भ भी ज्ञात होता है। किसी विवाद को हल करने हेतु एकत्र हुई परिषद के दो समूहों में विवाद शमन के अवसर पर कलह होने की सम्भावना पर इसका विधान हुआ। इसके अन्तर्गत दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों को अपने-अपने पक्षों से देशना की अनुज्ञा प्राप्त कर समस्त संघ के सम्मुख ज्ञप्ति के माध्यम से अपनी देशना स्वीकार करना मात्र ही अनुमत था।[86]

संघ सम्बन्धी नियमों के विश्लेषण से ज्ञात है कि प्रायः संघ में अपराधों की ज्ञप्ति के पश्चात् सर्वसम्मति से ही निर्णय लिए जाते थे। किसी विषय पर गम्भीर मतभेद एवं विवाद होने पर उसके हल हेतु दो या दो से अधिक भिक्षुओं की समिति का सर्वसम्मति से चयन होता था और यह समिति उद्वाहिका परिषद के नाम से जानी जाती थी। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है इस उद्वाहिका परिषद को प्रथम बार द्वितीय बौद्ध संगीति के अवसर पर व्यावहारिक परिणति मिली थी। यदि यह परिषद भी निर्णय लेने में अक्षम रहती थी, तो फिर बहुमत के आधार पर शलाका-ग्रहण के द्वारा ही उसका निर्णय किया जाता था और इसके लिए एक विशिष्ट शलाकाग्राहापक नामक अधिकारी की नियुक्ति होती थी और वह बहुमत के निर्णय को प्रकाशित करता था। इस प्रकार विवाद-शमथ सम्बन्धी सामान्य

अध्ययन से सुस्पष्ट है कि संघ में सर्वसम्मति का विशिष्ट स्थान था तथा बौद्ध धर्म-संघ की कार्य पद्धति प्रजातांत्रिक थी।

चतुर्निश्रय सम्बन्धी नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि भिक्षुओं का जीवन चतुर्निश्रय द्वारा संचालित होता था, जिसके अन्तर्गत पिण्डपातिक भिक्षान्न, पांसुकूलिक चीवर, वृक्षमूलिक आवास तथा गौमूत्र भैषज्य का विधान मिलता है;[87] जो कि क्रमशः भोजन, वेशभूषा, आवास तथा चिकित्सा से सम्बद्ध है। निश्चित ही चतुर्निश्रय-आधृत बौद्ध भिक्षुओं का जीवन सुविधाजनक नहीं था। अतः समय, समाज और भौगोलिक माँग पर प्रत्येक निश्रय में अनेक अतिरेक लाभों का समावेश हुआ। संघ की सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि ने इन अतिरेक लाभों के संयोजन की प्रवृत्ति को और अधिक प्रोत्साहित किया और इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं का जीवन अत्यन्त सुविधा-सम्पन्न और गृहियों के लिए भी अभिरुचि एवं आकर्षण का कारण बना। सुखमय जीवन की कामना से अभिलषित हो उपालि को उसके माता-पिता द्वारा संघ-दीक्षित कराने के विवरण को इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।[88] अतः चतुर्निश्रय सम्बन्धी नियमों में अनेक संशोधन-परिवर्द्धन हुए और यहाँ इसी की विवेचना का प्रयास होगा।

प्रथम निश्रय से सम्बद्ध नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

प्राण-रक्षा एवं शरीर-पोषण के लिए क्षुधा-पूर्ति अनिवार्य है और सम्भवतः इसीलिए मध्यमार्गी बौद्ध धर्म में प्रथम निश्रय के रूप में क्षुधा-पूर्ति के लिए पिण्डपातिक भोजन की अनुज्ञा थी और उपवास की वर्जना थी। प्रारम्भिक पालि साहित्य में जहाँ बौद्ध भिक्षुओं को भिक्षान्न में मिले भोजन को ग्रहण करने का निर्देश था, वहीं अनेक स्थलों पर उनके लिए आमंत्रण-भोज, आराम-भोज, उद्देश-भोज, पाक्षिक उपोसथिक भोज आदि का विधान मिलता है।[89] निश्चय ही इस प्रकार के भोजों को भिक्षु-संघ की सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि तथा दान-दाता गृहस्थों के आग्रह पर प्रथम निश्रय सम्बन्धी नियमों

के संशोधन-परिवर्द्धन का परिणाम स्वीकार करना चाहिए, जिसमें समाज के सभी वर्गों का महत्त्वपूर्ण सहयोग था।

भिक्षान्न-भोजी बौद्ध भिक्षुओं के लिए काशी में यश माता-पिता द्वारा सभिक्षु संघ बुद्ध को घर पर आमंत्रित कर भोजन कराया जाना एक महत्त्वपूर्ण अवसर था[90] और इससे सद्धर्म में आमंत्रण-भोज का प्रारम्भ हुआ। भोज्य पदार्थ की दृष्टि से उल्लेखनीय है कि बौद्ध भिक्षुओं को वह सब अनुमत था, जो दाता उन्हें प्रदान करे। हाँ, किसी विशेष भोज्य पदार्थ की अभिलाषा रखना अथवा उसके लिए किसी से याचना करना निषिद्ध था।[91] मात्रा की दृष्टि से बौद्ध भिक्षुओं को मात्र एक ही बार भोजन करना अनुमत था और उसके लिए एक ही समय पूर्व मध्याह्न में भोजन अनुमत था;[92] परन्तु बीमारी या कमजोरी आदि की स्थिति में उनके लिए एक से अधिक बार भोजन करने का भी विधान था। विशाखा के अनुरोध पर उन्हें प्रातः यवागू-पान की अनुमति भी मिली[93] और पाथेय-तण्डुल, गुड़, मूँग आदि के उपयोग की अनुमति भी प्राप्त हुई। यद्यपि प्रारम्भ में भी उनके लिए भिक्षा माँगकर आराम में ले आकर अपने उपाध्याय, आचार्य को दिखाकर, परस्पर बाँटकर भोजन करने की अनुमति थी, परन्तु कुछ समय बाद उन्हें आराम में भोजन पकाने और ग्रहण करने की भी अनुमति मिल गई।[94] यद्यपि यह आकस्मिक बाधा के निवारण के लिए मिली अनुज्ञा का विकास था। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि राजगृह में एक बार अकाल पड़ने पर अन्न कठिनाई से प्राप्त होता था - अतः चोर व चूहों से बचाने के लिए उसे विशेष स्थान पर रखने और भिक्षुओं को शान्तिपूर्वक भोजन पकाने-खाने का विधान बना।[95] निश्चय ही यह असामान्य परिस्थिति में अनुमत हुआ था, किन्तु कालान्तर में इस प्रकार की छूटों का रूढ़ हो जाना और सामान्य प्रचलन में आ जाना सहज सम्भव है।

भिक्षुओं के लिए सामान्यतः शाकाहार ही अनुमत था, परन्तु प्रारम्भिक पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन से उनके लिए मांसाहार भी सर्वथा निषिद्ध नहीं लगता[96] और इसे ही लेकर जैन सम्प्रदायवादियों द्वारा इनकी यत्र-तत्र तीव्र आलोचना भी की गई है;[97] किन्तु भोजन की दृष्टि से

भिक्षाश्रित बौद्ध भिक्षुओं के लिए किसी भोज्य-पदार्थ विशेष का सर्वथा निषेध सम्भव भी नहीं लगता और सम्भवतः यही कारण भी था कि बुद्ध ने भिक्षा में मिले सभी भोज्य पदार्थो को ग्रहण करने का नियम बनाया था और इससे मांस भी अलग न था।[98] हाँ, मांस-भक्षण के सन्दर्भ में वे सतर्क अवश्य थे इसलिए उन्होंने "त्रिकोटि परिशुद्ध" अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित मांस-भक्षण का नियम बनाया था।[99]

अस्वस्थ भिक्षुओं के लिए तो स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से उपयोगी मांस-भक्षण की याचना का भी निर्देश था।[100] यद्यपि यह तभी तक अनुमत था जब तक कि वह स्वस्थ न हो जाय। प्रथम निश्रय सम्बन्धी नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन दानदाताओं के दान का सुफल था, कि भोजनामंत्रण आदि से सम्बद्ध विविध भिक्षु-अधिकारियों – यवागूभाजक, फलभाजक, खज्जकभाजक, भत्तुददेशक, भाण्डागारिकादि की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ी।[101]

द्वितीय निश्रय से सम्बद्ध नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

द्वितीय निश्रय पांसुकूलिक चीवर के सम्बन्ध में है। भिक्षुओं का लज्जा-हया की प्रतीति के निवारण आदि के लिए जहाँ तन ढँकने के लिए फेंके पड़े चीथड़ों को परस्पर सिलकर वस्त्र के रूप में प्रयोग की अनुमति थी,[102] वहीं बौद्ध भिक्षु विविध प्रकार के आकर्षक सुविधाजनक वस्त्रों तथा जूता, आदि का प्रयोग करते भी वर्णित हैं।[103] निश्चय ही ये दोनों तथ्य विरोधी लगते हैं, परन्तु सूक्ष्म अध्ययन से ये परिस्थितिजन्य संशोधन एवं परिवर्द्धन के सुफल दिखाई देते हैं। गृहियों की दानादि की भावना का समादर करते हुए भिक्षुओं को दान में प्राप्त वस्त्रों के उपयोग का विधान बना। प्रथमतः तो इन्हें एक ही चीवर रखने की अनुशंसा थी, लेकिन नगनक, छपणक जैसे आरोप पर दोहरे चीवर रखने का विधान बना। भौगोलिक कठिनाइयों के तहत वस्त्राधारण सम्बन्धी नियमों में अनेक संशोधन-परिवर्द्धन हुए, यथा – अवन्ति जनपद के भिक्षुओं के लिए उपानह, चर्मस्तरण के प्रयोग की अनुमति मिली।[104] भिक्षु-भिक्षुणियों में वस्त्र सम्बन्धी लिंगानुरूप अन्तर भी

था। भिक्षुणियों के लिए कुछ अतिरिक्त वस्त्रों के प्रयोग की अनुज्ञा थी।[105] ये वस्त्र प्रायः कौशेय, कपास, क्षौम, भांग या इनके मिश्रण के बने होते थे।[106] यद्यपि दाताओं के दान पर यदा-कदा इन वस्त्रों के उपादानों में छूट भी सम्भव थी। भले ही कुछ भिक्षु वस्त्र सम्बन्धी नियमों का दुरुपयोग करते दिखाई देते हैं, आकर्षक ढँग के वस्त्राभरण से अपने को सजाते दिखते हैं लेकिन समग्र पालि वाङ्गमय में ऐसे भिक्षुओं की निन्दा ही मिलती है। वस्तुतः बुद्ध का यह मन्तव्य प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में अत्यन्त प्रभावी रहा कि वस्त्र का उपयोग लज्जा-हया की प्रतीति के निवारण के लिए होने चाहिए न कि शरीर सज्जा के लिए। सम्भवतः ऐसी स्थिति से बचने के लिए ही दानादि में मिले वस्त्र, कम्बल आदि को प्राकृतिक रंगों से विवर्ण करने और उनमें पैबन्द लगाने का विधान था।[107] इसी प्रकार अन्त तक भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए सीमित वस्त्रों के उपयोग की ही अनुमति थी, परन्तु दानादि में मिलने वाले वस्त्रों की अधिकता और सम्भवतः भिक्षुओं की संग्रही वृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए दान में उपलब्ध अतिरिक्त वस्त्रों पर संघ का अधिकार माना जाता था और उनके वितरण के लिए चीवर-निदहक जैसे अधिकारी की भी नियुक्ति की गई थी।[108] चीवर सम्बन्धी नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन में उत्तरदायी अलग-अलग वर्गों का निर्देश कर पाना तो सम्भव नहीं लगता, किन्तु इतना तो सुस्पष्ट है कि इसमें समाज के सभी वर्गों का कम या अधिक सहयोग था।

तृतीय निश्रय से सम्बन्धित नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनुमत तृतीय निश्रय वृक्षमूलिक आवास उनके निवास से सम्बद्ध था। प्रथमतः जहाँ इन्हें वृक्ष के नीचे रहना अनुमत था, वहीं हम उनके निवास के लिए हर्म्य, अड्ढयोग, पासाद की भी अनुशंसा पाते हैं। निश्चय ही इसे विकास का सूचक कहा जा सकता है। कतिपय विद्वानों ने तो पञ्च आवासों में से अड्ढयोग आदि को क्षेपक के रूप में देखने की चेष्टा की है और इसके प्रयोग को बुद्धोत्तरकालीन घटना स्वीकार किया है। यह बुद्धोत्तरकाल का था अथवा नहीं था, यह विवादास्पद हो सकता है, लेकिन इसमें शायद ही किसी को कोई संशय हो कि आवास

सम्बन्धी सभी नियम किसी समय-विशेष की अनुशंसा नहीं हो सकते। बौद्ध धर्म-संघ में कृत्रिम आवास के उपयोग की अनुमति बिम्बिसार द्वारा वेणुवन दान के साथ सम्पन्न हुई।[109] पुनः भिक्षुओं की आवास-सुविधा को देखते हुए सर्दी, गर्मी, वर्षा तथा सर्प, बिच्छू और उससे बचाव के लिए आवासों में संशोधन-परिवर्द्धन की स्वीकृति मिली और विविध प्रकार के पञ्च-आवासों[110] में भिक्षुओं का निवास करना सम्भव हुआ, साथ ही आवास में दरी, कम्बल, आसन्दी, शयनासन, आदि अनेक आवश्यक उपयोगी उपकरणों के भी प्रयोग की अनुमति मिली।[111] आवास सम्बन्धी नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन के पीछे परिस्थितिजन्य कठिनाइयाँ तो उत्तरदायी थीं ही, दानदाताओं की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक समृद्धि को भी प्रभावी कारक माना जा सकता है। इसमें पिलिन्दवच्छ द्वारा बनवाए गए लेण, अनाथपिण्डक का जेतवनाराम, विशाखा के हत्थिनख पासाद तथा जीवक का जीविकाम्बवन, आदि रोचक आनुषंगिक उदाहरण हो सकते हैं।

अन्तिम (चतुर्थ) निश्रय से सम्बद्ध नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन

स्वास्थ्य आदि को देखते हुए बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं को नियंत्रित-संयमित रहने तथा चंक्रमण आदि की अनुज्ञा दी थी। परन्तु इसके बावजूद बौद्ध भिक्षु अनेक स्थलों पर अस्वस्थ दिखाए गए हैं और उनके लिए गौमूत्र से लेकर कषाय, फल, त्वक्, पत्र वाली दवाइयों के साथ-साथ मद्य, मांस, तेल आदि के प्रयोग का विधान मिलता है। यथावश्यक चीर-फाड़ की अनुमति भी दिखाई देती है। इन सबको देखते हुए ऐसा लगता है कि बौद्ध भिक्षु एक सामान्य गृहस्थ की तरह स्वास्थ्य-लाभ के लिए विहित-अविहित सभी वस्तुओं का प्रयोग कर सकता था और अविहित पदार्थ भी रोग-विशेष के लिए विहित हो जाया करता था। लेकिन बौद्ध भिक्षुओं के लिए पालि-वर्णित चिकित्सा सम्बन्धी अनुज्ञा को विकास का परिणाम स्वीकार करना चाहिए। ध्यातव्य है कि बुद्ध का गृहत्याग ही चार दृश्यों, जिनमें रोगी भी एक था, का सुफल था। अतः बुद्ध का रोग निवारण के प्रति सतर्क रहना सहज स्वाभाविक है। सम्भवतः यही कारण है कि बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनुज्ञप्त

चतुर्निश्रयों में एक चौथे निश्रय के रूप में गौमूत्र भैषज्य का विधान बना,[112] जिसमें रोगी भिक्षु के लिए दवा के रूप में गौमूत्र ही अनुमत था। परन्तु होने वाले अनेक असाध्य रोगों के लिए चिकित्सकीय सलाह पर समय-समय पर अतिरेक लाभ के रूप में अनेक औषधियाँ एवं चिकित्सा निवारक उपाय विधानित हुए।

कतिपय रोगों में अथवा रोगजन्य शक्तिक्षीणता में शक्तिवर्द्धन के लिए तेल, मधु, खाण्ड, मछली आदि के सेवन का विधान बना।[113] यद्यपि इनके प्रयोग का समय और मात्रा निर्धारित थी। प्रारम्भ में अपराह्न में ही इनका उपयोग सम्भव था, बाद में इनका समय और मात्रा चिकित्सकीय परामर्श से निर्धारित होने लगी। पौष्टिक पथ्य के रूप में प्रातः यवागू-पान भी नियत था।[114] आवश्यकता पड़ने पर रोगी भिक्षु सुअर, गधे, रीछ, मछली आदि की चर्बी को तेल में पकाकर उपयोग कर सकते थे।[115] रुग्ण भिक्षु हेतु मूल की दवाइयों के रूप में हल्दी, अदरख, बच, अतीस, आदि, कषाय की दवाइयों के रूप में नीम का कषाय, कुटज का कषाय, पटोल का कषाय, पग्गव का कषाय, नत्तमाल का कषाय, पत्तों की दवाइयों के रूप में नीम, तुलसी, पटोल, कपासी, कुटज के पत्ते आदि के उपयोग की अनुशंसा मिलती है। फल तथा गोंद की दवाइयों के रूप में क्रमशः विडंग, पिप्पली, मिर्च, हर्रा, बहेरा, आँवला, गोष्ठफल तथा हींग, हींग की गोंद, हींग की सिपाटिका एवं पत्ती, सुज्जुकी गोंद आदि के उपयोग का भी विधान बना।[116] समुद्रीय नमक के साथ ही काला, सेंधा, वानस्पतिक तथा विडाल आदि नमकों से निर्मित दवाओं के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है।[117]

आवश्यकता पड़ने पर विहार में भी भिक्षु औषधियों का निर्माण और उसका संग्रह कर सकता था। अतः इसके लिए दवा बनाने, प्रयोग करने आदि से सम्बद्ध पात्र, उपकरणों को भी रखने की अनुमति मिली। इस सन्दर्भ में वेलट्ठशीश के प्रकरण का उल्लेख किया जा सकता है। उनकी दाद की बीमारी को देखते हुए उन्हें चूर्ण वाली दवाइयों को कूटने, पीसने, छानने तथा रखने एवं प्रयोग करने की अनुमति दी गई। खुजली, फोड़ा आदि व्याधियों में भी इस प्रकार के चूर्ण वाली दवाइयों के बनाने एवं उनके

उपयोग की छूट थी।[118] बौद्ध भिक्षुओं के आँख, नाक एवं सिर के रोगों के निदान हेतु अंजन, अंजनदानी, नाक-नस तथा नसकरनी एवं सिर पर तेल की मालिश जैसी औषधियों और उसके प्रयोग के उपकरणों को रखना अनुमत था। आवश्यकता पड़ने पर भिक्षु धूम्र का प्रयोग भी कर सकते थे।[119] वात सम्बन्धी रोगों हेतु पके तेल एवं उसमें यथावश्यक मद्य डालकर पकाने एवं उपयोग करने का विधान मिलता है।[120] इसके साथ ही दवाइयों से ठीक न होने की स्थिति में भिक्षुओं को स्वेद-कर्म, चीर-फाड़, मरहम-पट्टी, मालिश आदि का प्रसंग मिलता है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि किसी भी अवस्था में गुह्य स्थान के चारों ओर दो अंगुल की दूरी तक चीर-फाड़ नहीं की जा सकती थी। सर्पदंश की स्थिति में चार महाविकटों – पाखाना, पेशाब, राख और मिट्टी के भक्षण का विधान था।[121]

पालि साहित्य वर्णित चतुर्निश्रय गौमूत्र भैषज्य में जुड़ते अतिरेक लाभ निश्चय ही भिक्षुओं के रोग एवं कमजोरी होने तक आवसरिक ही अनुमत थे, परन्तु अनेक सुविधाभोगी भिक्षुओं की उनके प्रयोग के प्रति आसक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की आसक्ति के अनेक उदाहरण हैं भी। यह बात अलग है कि समय-समय पर उनकी वर्जना की गई है अथवा उनके सामान्य प्रयोग की अनुमति दे दी गई है। इस प्रकार चतुर्निश्रय नियम आरम्भ में भिक्षुओं की न्यूनतम आवश्यकता-पूर्ति के साधन थे। परन्तु जुड़ते अतिरेक लाभ के साथ वे भिक्षुओं के सरल एवं सुविधाभोगी जीवन का संकेत देते हैं। निश्चय ही ये संघ की समृद्ध अवस्था के द्योतक हैं, किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि चतुर्निश्रयों में समय-समय पर जुड़ने वाले अतिरेक लाभों का जहाँ अनेक भिक्षु अपने दैनिक जीवन में उपयोग करते दिखाई देते हैं, वहीं कतिपय मूल रूप में चतुर्निश्रयों को ही सम्पादित मानते हैं और उन्हीं के प्रति आग्रही तथा अतिरिक्त लाभों के प्रति तिरस्कार व्यक्त करते मिलते हैं। वैसे भी, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि संशोधित नियम पूर्व नियम का स्थानापन्न नहीं हो जाता और चतुर्निश्रय सम्बन्धी विधान भी इसके अपवाद नहीं हैं।

संघ-दीक्षा

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि बुद्ध ने जाति-वर्गविहीन धर्म-संघ की स्थापना की और उसमें रंक से लेकर राजा, ब्राह्मण से लेकर शूद्र – सभी स्त्री-पुरूषों के लिए संघ-प्रवेश सम्भव बना दिया। प्रारम्भिक पालि साहित्य में संघ की सदस्यता प्राप्ति के व्यापक विधान मिलते हैं। पंच रोग से ग्रस्त व्यक्तियों, ऋणी, दास, राजसैनिक आदि को तथा माता-पिता की आज्ञा के बिना प्रव्रज्या, उपसम्पदा का निषेध मिलता है।[122] प्रव्रज्या-उपसम्पदा के अवसर पर उपाध्याय-आचार्य का होना और उसके लिए निश्चित विधान का पालन अनिवार्य बन गया लगता है। किन्तु प्रव्रज्या-उपसम्पदा के नियमों तथा विधि-विधानों के सामान्य अध्ययन से प्रव्रज्या-उपसम्पदा सम्बन्धी नियम क्रमिक विकास के परिणाम लगते हैं। यद्यपि उनका ऐतिहासिक क्रम स्वतंत्र शोध का विषय हो सकता है, किन्तु यहाँ उनके विकास की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करना उपयोगी प्रतीत होता है।

प्रारम्भ मे यद्यपि संघ-प्रवेश स्त्रियों के लिए अज्ञात था, परन्तु कोई भी इच्छुक पुरूष "एहि भिक्खु ...." के माध्यम से संघ-सदस्यता प्राप्त कर सकता था।[123] किन्तु सदस्यता-प्राप्ति के प्रति बढ़ते इच्छुकों को देखकर विधान बनाने की आवश्यकता हुई और सदस्यता-प्राप्ति के लिए सिर-दाढ़ी मुड़ाकर, काषाय वस्त्र पहनना और उकड़ूँ बैठ उपस्थित भिक्षुओं की वन्दना करते हुए प्रव्रज्या-उपसम्पदा की याचना के बाद ही प्रव्रज्या-उपसम्पदा देना अनुमत हुआ। इस प्रकार की याचना पर त्रिशरण-गमन के माध्यम से उन्हें संघ की सदस्यता प्रदान कर देने का नियम बना। कालान्तर में तो प्रव्रज्या-उपसम्पदा की प्राप्ति संघ-कर्म का विषय बन गई।[124] बौद्ध संघ की स्थापना के कुछ समय बाद भिक्षुणी के रूप में स्त्रियों का भी संघ-प्रवेश सम्भव हुआ और बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ अस्तित्व में आया। समय के साथ प्रव्रज्या-उपसम्पदा में भी विभेद हुआ और प्रव्रज्या प्राप्ति उपसम्पदा का प्रारम्भिक चरण बन गया। प्रव्रज्या-प्राप्त व्यक्ति को ही उपसम्पदा देने का विधान बना, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को उपसम्पदा देना

अनिवार्य न था,[125] बल्कि प्रव्रज्या-प्राप्त व्यक्ति को श्रामणेर के रूप में एक उपाध्याय के संरक्षण में रह विहित आचरणों का पालन करना होता था। सन्तुष्ट होने तथा उसकी याचना पर निश्चित विधान के माध्यम से उपसम्पदा-दान की अनुमति मिली।[126] यह उपसम्पदा-प्राप्त व्यक्ति ही संघ का पूर्ण सदस्य अर्थात् भिक्षु होता था।

समाज अथवा लोक एवं राज-भय से बचने के लिए ऋणी, दास, राजसैनिक आदि को दीक्षित करना निषिद्ध कर दिया गया। इसी प्रकार माता-पिता अथवा पति की आज्ञा के बिना भी किसी की प्रव्रज्या-उपसम्पदा सम्भव न रही और इन सबको देखते हुए प्रव्रज्या-उपसम्पदा के समय तेरह अन्तरायी दोषों को पूछने का विधान बना था और इन सबके बाद ही ज्ञप्ति-चतुर्थ के माध्यम से संघ-सम्मति प्राप्त कर उपसम्पदा देने की व्यवस्था हुई।[127] इसी प्रकार किञ्चित् अवधि बाद उपाध्याय-आचार्य के प्रति श्रामणेर एवं नवक भिक्षुओं में पिता-बुद्धि तथा शिष्यों के प्रति उपाध्याय-आचार्य को पुत्र-बुद्धि रखनी होती थी। संघ की समृद्ध अवस्था में तो एक-एक आचार्य-उपाध्याय के पास बीस से चालीस शिष्यों के रहने के उदाहरण मिल जाते हैं।[128] अध्यात्म-ज्ञान और उपलब्धि की दृष्टि से जहाँ भिक्षुओं में स्रोतापन्न, सकदागामी, अनागामी एवं अर्हत जैसे वर्गीकरण मिलते हैं, वहीं यत्र-तत्र एक-जीवी, कोलंकोल और सत्तखत्तु-परम जैसा विभेद भी दिखाई देता है।[129] इसी प्रकार उपसम्पदा या स्थाविरता क्रम की दृष्टि से भी बौद्ध भिक्षुओं की श्रामणेर, नवक भिक्षु, मज्झिम भिक्षु एवं थेर भिक्षु जैसी चार श्रेणियाँ दिखाई देती हैं[130] और इन सबको बौद्ध धर्म-संघ के क्रमिक विकास का परिणाम स्वीकार करना चाहिए। संघ के इस प्रकार सदस्यता-प्राप्ति के नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टि से भी सभी जाति-वर्गों का न्यूनाधिक सहयोग था जिनका यथासन्दर्भ उल्लेख किया जाएगा।

नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन में विभिन्न वर्गों का योगदान

प्रारम्भिक पालि साहित्य में वर्णित वैचारिक समृद्धि एवं नियमों में संशोधन के सामान्य अध्ययन से प्रायः स्पष्ट है कि वे घटनाजन्य नज़ीर के

तौर पर घटित क्रमिक विकास के परिणाम हैं और इस प्रकार के विकास में न केवल गृहत्यागी भिक्षु-भिक्षुणियों, गृही उपासक-उपासिकाओं बल्कि सामान्य गृहस्थों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यद्यपि नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया को समाज के अलग-अलग वर्गों से सम्बद्ध करने के लिए प्रचुर सामग्री की अपेक्षा है जो है भी, परन्तु वह स्वतंत्र शोध का विषय है। अतः यहाँ अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन के लिए समाज के विविध वर्गों के प्रतिनिधि उदाहरणों के ही प्रकाशन का प्रयास होगा।

ब्राह्मण वर्ग

चतुर्निश्रय विधान के सन्दर्भ में प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि यह भिक्षु जीवन की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु स्वयं बुद्ध द्वारा निर्मित किया गया था। किन्तु बौद्ध साहित्य विशेषकर विनय पिटक के विवरण को यथावत स्वीकार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसका विधान बुद्ध ने एक ब्राह्मण द्वारा मात्र सुस्वादु भोजन के लिए संघ-प्रव्रज्या ग्रहण करने से रुष्ट होकर बनाया था।[131] यह अपने वर्णित स्वरूप में स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि यश माता-पिता ने उपासक बनने पर भिक्षु-संघ सहित बुद्ध को भोजन हेतु आमंत्रित किया था। उस समय तक चतुर्निश्रयान्तर्गत "पिण्डपात" सम्बन्धी अवधारणा नहीं विदित होती। इसी प्रकार त्रिशरण-गमन द्वारा प्रव्रज्या उपसम्पदा के विकास क्रम का निश्चित अनुमान करना तो कठिन है, किन्तु प्रथमतः सारिपुत्र द्वारा राध को प्रव्रजित करने सम्बन्धी बुद्ध के निर्देशों के माध्यम से त्रिशरण-गमन की बात ज्ञात होती है।[132] अतः सारिपुत्र द्वारा राध को प्रव्रजित करने की प्रक्रिया में सम्भवतः प्रथम बार त्रिशरण-गमन सम्बन्धी नियम के व्यावहारिक प्रयोग को देखते हुए, इसे त्रिशरण-गमन द्वारा प्रथम दीक्षा स्वीकार करना चाहिए।

एक अन्य अवसर पर बुद्ध ने सारिपुत्र के लिए मात्र एक श्रामणेर रखने वाले नियम को परिवर्तित कर दिया तथा एक चतुर तथा निपुण भिक्षु को स्वयं उसकी प्रशासकीय क्षमतानुसार श्रामणेर रखने की अनुज्ञा प्रदान की।

निम्न-अन्य

यद्यपि जैसा कि संघ के सांख्यिक परिगणन सम्बन्धी तालिका से स्पष्ट है कि निम्न वर्ग की संख्या अत्यल्प थी, जो है भी उसमें दान-दक्षिणा की दृष्टि से ये बहुत उपयोगी नहीं लगते। इसके बावजूद नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टि से अन्य वर्गों की तुलना में कम सही, इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान लक्षित होता है। इस दृष्टि से गौमूत्र भैषज्य सम्बन्धी नियम के संशोधन की दृष्टि से यशोज का उल्लेख किया जा सकता है। अड्ढकाशी गणिका के सन्दर्भ में दूत द्वारा प्रव्रजित करने की अनुज्ञा भी प्रव्रज्या-उपसम्पदा सम्बन्धी नियम-संशोधन में महत्त्वपूर्ण लगती है।[146] इसी प्रकार धर्म-संघ सम्बन्धी अनेक नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन के प्रसंग में आम्रपाली का नाम श्रद्धा से लिया जा सकता है। अपने प्रभाव तथा दान-दक्षिणा से बौद्ध धर्म-संघ के अनेक नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन में यह सहायक बनी।

संदर्भ-सूची

1. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 79-82; सं०नि०, 56.11.12 (धर्मचक्र प्रवर्तन सुत्त)।
2. अ०नि० (हि०अ०), भाग 1, पृष्ठ, (जहाँ स्वयं बुद्ध द्वारा वरेण्य भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासक-उपासिकाओं का उल्लेख किया गया है)।
3. सु०नि०, "खग्गविषाण सुत्त।"
4. वि०म०, 1.6 और सं०नि०, 56.11.12 (धर्मचक्र प्रवर्तन सुत्त)।
5. ओल्डेनबर्ग, हर्मन, बुद्ध : हिज़ लाइफ, हिज़ डॉक्ट्रिन एण्ड आर्डर, पृष्ठ 366.
6. म०नि०, "गणकमोग्गलान सुत्त।"
   "एहित्वं भिक्खु जागरियं अनुयत्तो ..... आवरणीयेही धम्मेहि चित्तम परिसोधेहि।" (भाग 2, पृष्ठ 63, नालन्दा प्रकाशन) वि०म०, 8.16.
7. वि०चु०, 5.14 आदि, सं०नि०, 14.15 (चङ्कम सुत्त)।
8. तुलनीय, सं०नि०, 52.11 (कप्प सहस्स सुत्त) और आगे।
9. म०नि०, - वही -।

देते हैं। इस दृष्टि से किसी भोजन करते भिक्षु को नहीं उठाने तथा भोजन के अवसर पर एकसाथ दो आसन नहीं रोकने सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया जा सकता है।[140] चतुर्थ निश्रय गौमूत्र भैषज्य सम्बन्धी संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टि से बौद्ध साहित्य में सुख्यात चिकित्सक जीवक कौमारभृत्य का बहुशः उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पञ्च-रोगों से ग्रस्त लोगों के लिए संघ-दीक्षा का निषेध सम्बन्धी नियम भी इन्हीं के परामर्श पर निर्मित हुआ।[141]

वैश्य-गृहपति

बौद्ध साहित्य में वर्णित नियमों के अनुशीलन से नियमों के निर्माण एवं संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टि से वैश्य-गृहपति वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है। संघ द्वारा निर्धारित वर्षावास की अवधि में प्रव्रज्या-दान सम्बन्धी निषेधक नियम में विशाखा के प्रभाव में छूट मिलती है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि विशाखा के नाती की प्रव्रज्या के सन्दर्भ में स्वयं विशाखा के आग्रह पर गौतम बुद्ध ने वर्षावास की अवधि में भी प्रव्रज्या देने का नियम बनाया।[142] एक अन्य अवसर पर विशाखा द्वारा भगवान बुद्ध को ताड-निर्मित पंखा भेंट करने पर बुद्ध ने उसके उपयोग की अनुमति प्रदान की।[143] इसी प्रकार अन्य नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन में भी यह महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में उभरकर सामने आती है। इसके अतिरिक्त सोण कोटिविंश नामक भिक्षु के प्रकरण में बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए जूते पहनने सम्बन्धी नियम बनाकर उसे दीक्षित किया।[144] सुप्रिया उपासिका द्वारा एक रुग्ण भिक्षु को आवश्यक होने पर अपने शारीरिक अंग का मांस देने पर गौतम बुद्ध ने मानव-मांस के साथ ही हिंसक पशुओं के मांस-भक्षण का निषेध किया।[145] इसी प्रकार वैश्य-गृहपति वर्गीय अनाथपिण्डक, मेंडक, वेलट्ठकच्चान, चित्र गृहपति आदि भी नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टि से अनेक बार उल्लिखित मिलते हैं। वैसे भी बौद्ध धर्म-संघ की आर्थिक समृद्धि के प्रस्तोता वैश्य-गृहपति वर्ग का धर्म-संघ के नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टिसे महत्त्व सहज अनुमेय है।

महाकश्यप के पास उपसम्पदा ग्रहण करने आए दो लोगों को क्रम में पहले उपसम्पदा ग्रहण करने हेतु विवाद करते देख गौतम बुद्ध ने दो-तीन लोगों को एकसाथ उपाध्याय द्वारा अनुश्रवित कर उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। यही नहीं, केणिय जटिल द्वारा आमंत्रण-भोज के अवसर पर स्वयं बुद्ध ने आठ प्रकार के पानों – पान, आम्रपान, जम्बूपान, केला तथा अंगूरपान आदि के साथ ही अनाज के रस को छोड़कर सभी फलों के रस की, ढाक के रस को छोड़कर सभी पत्तों के रस की, महुवे के फूल के रस को छोड़कर सभी फूलों के एवं ऊख के रस को ग्रहण करने की अनुज्ञा दी।[133] इसी प्रकार महाकात्यायन के अनुरोध पर बुद्ध ने प्रत्यन्त जनपदों के भिक्षुओं हेतु पाँच विशेष नियमों का प्रावधान भी किया।[134] अधिक सदस्यों के साथ दीक्षा ग्रहण करने वाले कश्यप-बन्धुओं के प्रभाव में परिवास सम्बन्धी छूट भी मिली।

क्षत्रिय-प्रशासक

मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार द्वारा भिक्षु संघ को वेणुवन दान के साथ ही संघ में नियत आवास-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ[135] जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में आवास-सम्बन्धी अनेक नियमों का निर्माण एवं उनमें संशोधन-परिवर्द्धन हुआ। स्वयं गौतम बुद्ध ने शाक्य जाति से आगत तैर्थिकों के लिए परिवास अवधि सम्बन्धी नियम समाप्त कर उनके लिए सीधे उपसम्पदा देने का विधान बनाया[136] और मगधराज बिम्बिसार के आग्रह पर सैनिकों को प्रव्रज्या देने का निषेध किया।[137] इसके अतिरिक्त एक अवसर पर आनन्द के आग्रह पर बुद्ध ने 15 वर्ष से कम और कौआ उड़ाने में समर्थ बालक को श्रामणेर बनाने की अनुमति प्रदान की।[138] इनके परामर्श पर तथा मातृश्वसा प्रजापति गौतमी के अनुरोध पर स्त्रियों के लिए संघ-दीक्षा का विधान होना इतिहास प्रसिद्ध है।

किसी स्थान-विशेष पर वर्षावास कर मात्र उसी स्थान से चीवर लेने सम्बन्धी नियम-निर्माण में शाक्यवंशीय उपनन्द की भूमिका सुस्पष्ट है।[139] इसी तरह कतिपय अन्य नियमों के संशोधन में भी उपनन्द कारक दिखाई

10. अ०नि०, 4.19.6; 5.15.4 (तिकण्डकी सुत्त, उम्मग्ग सुत्त)।
11. म०नि०, "गणक मोग्गलान सुत्त" और "कीटागिरि सुत्त।"
12. सं०नि०, 4.23 और 54.9 (गोधिक सुत्त और वैशाली सुत्त)।
13. पालि साहित्य में यत्र-तत्र वैनयिक नियमों का उल्लंघन करते हुए षड्वर्गीय भिक्षुओं का विवरण मिलता है। षड्वर्गीय भिक्षुओं के विस्तृत समीकरण के लिए देखें, वि०पि० (हि०अ०), पृष्ठ 14 की पाद टिप्पणी तथा मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स।
14. अ०नि० (हि०अ०), भाग 1, पृष्ठ 21 और आगे।
15. दी०नि०, "महापरिनिर्वाण सुत्त।"
16. पाण्डे, गोविन्दचन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 117.
17. सं०नि० (पा०टे०सो०), 5.329 आदि।
18. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 118.
19. -वही- पृष्ठ 119.
20. -वही- पृष्ठ 119.
21. -वही- पृष्ठ 119.
22. अ०नि० (हि०अ०), भाग 1, पृष्ठ 21 और आगे।
23. देखें - तालिका क्रमांक
24. वही - ।
25. मिश्र, जी०एस०पी०, दी एज ऑव विनय, पृष्ठ 114.
26. चतुर्निश्रय से जुड़े अतिरेक लाभों का यथाप्रसंग उल्लेख किया गया है।
27. म०नि०, "भद्दालि सुत्त", 15.3.11.
("न ताव भद्दालि सत्था सावकानं सिक्खापदं पञ्ञापति ....धम्मान् परिप्पाताय")।
28. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 138.
29. - वही - ।
30. वि०म०, 2.1 एवं 2.2.
31. दी०नि०, "महापदान सुत्त।"
32. वि०म०, (हि०अ०), पृष्ठ 150.
33. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 144.
34. वही, पृष्ठ 145.

35. वही, पृष्ठ 145.
36. - वही - पृष्ठ 141.
37. वि०म० (हि०अ०) पृष्ठ 146.
38. -वही - पृष्ठ 146.
39. वि०अ०, 2.8, 2.20.
40. -वही -2.22-23, 2.25
41. वि०म०, 2.27.
42. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 155.
43. वि०म०, 3.1; दत्त, सुकुमार, "अर्ली बुद्धिस्ट मोनाशीज़्म, पृष्ठ 101 तथा बुद्ध एण्ड फाइव आफटर सेन्चुरीज़, पृष्ठ 66-67.
44. - वही - 3.2.
45. - वही - , 3.14.
46. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 172.
47. वही पृष्ठ 172 और आगे।
48. - वही - पृष्ठ 175 और आगे।
49. वि०म०, 3.9 और आगे।
50. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 178.
51. - वही -, पृष्ठ 180.
52. वि०म०, 3.12 और आगे।
53. वि०म०, 4.1.13-14 और 4.3.1 तथा कर्न, एच०, "मैन्युअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 83.
54. - वही - 4.17.7 और आगे।
54. -वही - 4.15.
56. वि०म०, 4.18. तुलनीय 4.17.6.
57. हार्नर, आई०बी०, बु०डि०, जि० 1, भूमिका, पृष्ठ 14.
58. अ०नि०, 3.9.4 (वज्जिपुत्त सुत्त)।
59. वि०सु०, भिक्षु एवं भिक्षुणी पातिमोक्ख।
60. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 139.
61. वि०म०, 2.15.1 और आगे।

62. - वही - 2.17, 2.21.3-4, दृष्टव्य, दत्त, नलिनाक्ष एवं बाजपेयी, के०डी०, उ०प्र० में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ 174.
63. वि०चु० (हि०अ०), "कर्म स्कन्धक।"
64. वि०चु० (हि०अ०), पृष्ठ 341.
65. - वही - पृष्ठ 344.
66. - वही - पृष्ठ 345-46.
67. - वही - , पृष्ठ 346.
68. वि०चु०, 1.9-1.17.
69. वि०चु० (हि०अ०), पृष्ठ 349.
70. वि०चु०, 1.18-24
71. - वही - , 5.20, तुलनीय, अ०नि०, 8.9.7 (पत्त निकुज्जन सुत्त)।
72. वि०चु०, 7.3.2-3.
73. वि०चु० (हि०अ०), पृष्ठ 358, 361 तथा 363.
74. दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त"।
75. तुलनीय, शास्त्री, अजय मित्र, एट आउट-लाइन इन अर्ली बुद्धिज़्म, पृष्ठ 145 और आगे।
76. समस्त संघों के सन्दर्भ के लिए देखें, वि०म०, 9.4.
77. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 304.
78. - वही - पृष्ठ 305.
79. वि०म०, 9.4.2 और आगे।
80. वि०चु० (हि०अ०), पृष्ठ 395.
81. वि०चु० (हि०अ०) पृष्ठ 397 और आगे।
82. - वही - पृष्ठ 400.
83. - वही - पृष्ठ 401 और आगे।
84. वही पृष्ठ 403.
85. वि०चु० 4.11-12.
86. - वही - , 4.13; (तिणवत्थारक के विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें, उपासक, चन्द्रिका सिंह, डिक्शनरी ऑव अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स, पृष्ठ 107)।
87. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 106-107.
88. - वही - पृष्ठ 118.

89. वि०चु०, 6.21.
90. वि०म०, 1.7.10 और 1.8
91. वि०सु०, पाचित्तिय, 31-40 (भिक्खु पातिमोक्ख)।
92. वि०म०, 1.8, 1.22.11 और आगे।
93. - वही - 8.15.
94. - वही - 6.17 और 6.33.
95. - वही - 6.17 और 6.33
96. वि०म० 6.25, 6.36; मं०नि० ''उपालि सुत्त'' और ''सीह सेनापति सुत्त'' तथा दी०नि० ''महापरिनिब्बान सुत्त'' (जहाँ न केवल बौद्ध भिक्षु बल्कि स्वयं बुद्ध भी मांस भक्षण करते वर्णित हैं)।
97. - वही - 6.31.13, म०नि०, ''सीह सुत्त।''
98. वि०सु०, पाचित्तिय 31-40 (भिक्खु पातिमोक्ख); वि०चु०, 5.21.4.
99. वि०म०, 6.23.8-9, 6.31.14 आदि, तुलनीय, हॉर्नर, आई०बी०, बु० डि०, जि० 4, पृष्ठ 298 और पाद टिप्पणी।
100. वि०म०, 6.23.10 और आगे।
101. - वही - 6.21.
102. दी०नि०, ''पासादिक सुत्त।''
103. देखें क्रमशः वि०म०, 5.29, 5.2 तथा आगे तथा वि०चु०, 5.23.2 और आगे।
104. वि०म०, 5.13.
105. वि०म०, 8.13.7, 8.20 और 8.15, देखें, वि०सु०, पाचित्तिय, 24 और आगे।
106. - वही - 8.14.
107. - वही - 8.13 और 8.10.
108. - वही - 8.13.6 और 8.6 और आगे।
109. वि०म०, 1.22.11 और आगे।
110. वि०चु०, 6.1 और आगे तथा 6.14 (पञ्च आवास - विहार, अड्ढयोग, पासाद, हर्म्य और गुहा)।
111. वि०चु०, 6.2.6 और आगे, 6.14 तथा 6.19.
112. वि०म०, (हि०अ०), पृष्ठ 107.
113. वि०सु०; नि०पा०, 23 और वि०म०, 6.1.
114. वि०म०, 8.15, 9.10.

115. - वही - (हि०अ०), पृष्ठ 216.
116. - वही - पृष्ठ 216-17.
117. - वही - पृष्ठ 217.
118. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 217.
119. - वही - पृष्ठ 218-19.
120. - वही - पृष्ठ 220.
121. - वही - पृष्ठ 220-22.
122. वि०म०, 1.76.
123. - वही -, 1.6.32-34; 1.24.4, 1.7.15 आदि।
124. - वही -, 1.12, 1.28.
125. - वि०म०, 1.79.
126. - वही -, 1.54.3, तुलनीय, 1.55.
127. - वही -, 1.76-77 (जहाँ उपसम्पदा सम्बन्धी विधि-विधान वर्णित है)।
128. म०नि०, "आनापानसति सुत्त।"
129. अ०नि०, 8.2.9 (पहाराद सुत्त)।
130. नवक मज्झिम एवं थेर भिक्षु सम्बन्धी विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - हार्नर, आई०बी०, बु०डि०, जि० 4, पृष्ठ 141 की पाद टिप्पणी; रीस डेविड्स एवं स्टीड, पा० इ० डि०, पृष्ठ 310, 348; उपासक चन्द्रिका सिंह, डिक्शनरी ऑव अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स, पृष्ठ 178.
131. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 106-07.
132. - वही -, पृष्ठ 105-06.
133. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 250-51.
134. वि०म०, 5.13.
135. वही, 1.22.11 और आगे।
136. - वही - 1.38.1.
137. - वही - 1.45 और 1.40.
138. - वही - (हि०अ०), पृष्ठ 119-20.
139. - वही - पृष्ठ 289-90.
140. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 466-67.
141. वही, 1.39, 1-5, 139-6-7, 8.1.34-35 और 9.14.1.

142. वही, पृष्ठ 181-82.
143. वही, 8.18, वि०च० 5.22.
144. वही, 5.1.
145. वही, 6.23-10 और आगे।
146. वि०म० (हि०अ०), पृष्ठ 537.

अध्याय सप्तम

परिनिर्वाणोत्तरकालीन धर्म-संघ

बुद्ध के परिनिर्वाणोत्तर बौद्ध धर्म-संघ का इतिहास बुद्ध के अनुयायियों, बौद्ध भिक्षुओं के आचार में आ रही शिथिलता तथा बौद्ध धर्म-संघ में आ रही विकृति की चिन्ता और उसे दूर करने के उपाय, संगीतियों का आयोजन, सैद्धान्तिक विभेद और तद्जनित सम्प्रदाय-भेद के इतिहास के रूप में उभरकर सामने आता है और इस प्रकार के विविध परिवर्तनों की दृष्टि से बुद्ध के परिनिर्वाण से लेकर अशोक-पूर्व तक की अवधि को अध्ययन की विशिष्ट इकाई के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में इस समयावधि में हुए सर्वक्षेत्रीय परिवर्तन और परिवर्द्धन को विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा। यद्यपि इस युग की सद्धर्म सम्बन्धी विश्लेषणा के प्रामाणिक स्रोत-साहित्य का प्रायः अभाव है। ऐसी स्थिति में परवर्ती ग्रन्थों की सूचनाओं पर निर्भरता बढ़ जाती है, किन्तु उनमें भी परस्पर विरोधी सूचनाओं की बहुलता लक्षित होती है। फिर भी विभिन्न निकायों के ग्रन्थों में तथा "महापरिनिर्वाण सूत्र" में प्राप्त प्रथम एवं द्वितीय संगीतियों के आयोजन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म-संघ से सम्बन्धित यत्र-तत्र उपलब्ध जानकारी के लिए तारानाथ के ग्रन्थ[1], चीनी यात्रियों के विवरण, मंजूश्री मूलकल्प[2], महावंश तथा विभिन्न निकायों के उद्भव एवं विकास से सम्बद्ध ग्रन्थ उपादेय प्रतीत होते हैं। परन्तु उक्त ग्रन्थों से प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का समाकलन प्रायः कठिन है; तो भी इन अध्ययनों के सतर्क सन्तुलित अनुशीलन से विवेच्य युगीन बौद्ध धर्म के इतिहास की संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

विवेच्य काल में बौद्ध धर्म-संघ में बहुशः समृद्धि तो आई किन्तु जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर किसी सर्वमान्य नेता के अभाव में अनेक मत-मतान्तर भी उभरकर आए और इसका श्रेय सद्धर्म में विचार-स्वातंत्र्य की महत्ता तथा बुद्ध के स्वावलम्बी एवं स्वयं के ज्ञान से प्रकाशित होने जैसे वक्तव्यों को दिया जाना चाहिए। इसे आत्मनिर्भरता तथा सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से चाहे जितना महत्त्व दिया जाए परन्तु बुद्धोत्तर सैद्धान्तिक मतभेद के भी यही कारक बने। वैशाली में खान-पान संघीय विधि-विधान आदि को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ और भिक्षुओं को एकत्र कर उद्वाहिका परिषद के माध्यम से निर्णय लेने की आवश्यकता पड़ी।[3] यद्यपि सिद्धान्ततः तो यह उद्वाहिका परिषद बुद्ध के समय में ही अस्तित्व प्राप्त कर चुकी थी, परन्तु द्वितीय संगीति के अवसर पर निर्णय की प्रक्रिया में होने वाले कलह की आशंका से इस उद्वाहिका परिषद की आवश्यकता पड़ी।[4] यद्यपि वैशाली के सुविधाभोगी भिक्षुओं ने संगीति के निर्णय को स्थविरों का सम्मान करते हुए मान तो लिया किन्तु इस संगीति के अवसर ने ही संघ-भेद का मार्ग प्रशस्त कर दिया[5] और अशोक के समय तक धर्म-संघ कई सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया जिसका यथा सन्दर्भ उल्लेख किया जाएगा।

यशकाकण्ड-पुत्र द्वारा वज्जिकपुत्तकों के तथाकथित शिथिलाचार के निवारण के लिए द्वितीय संगीति के आयोजन का प्रयास तथा दोनों पक्षों के भिक्षुओं द्वारा सद्धर्म की दृष्टि से महत्त्व प्राप्त केन्द्रों के सम्मानित भिक्षुओं से अपने पक्ष के समर्थन के लिए याचना करने जाने और वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा इस आधार पर कि इस क्षेत्र में भगवान बुद्ध ने जन्म लिया था, इसलिए अपेक्षाकृत वे श्रेष्ठ हैं और विशिष्ट सुविधाओं के अधिकारी हैं – जैसी मांगों से स्पष्ट होता है कि इस समय तक सद्धर्म में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति प्रभाव प्राप्त कर गई थी। किन्तु चातुद्दिस भिक्षु-संघ की भावना का सर्वथा लोप नहीं हुआ था वरन् विविध क्षेत्रों से आए 700 भिक्षुओं की परिषद के निर्णय को वे स्वयं वैशाली की भूमि पर ही वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा यथेष्ट सम्मान दिया जाता है।[6] इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि किसी क्षेत्र विशेष के बौद्ध भिक्षुओं और सद्धर्म में आई विकृतियों के निवारण के लिए

अन्य क्षेत्रों के बौद्ध भिक्षु भी प्रयत्नशील होते थे, और "चातुद्दिस भिक्षु संघ" की अवधारणा के प्रकाश में यह सहज स्वाभाविक भी है।

बहुविध वृद्धि-समृद्धि

बुद्ध के मरणोपरान्त धर्म-संघ का अस्तित्व एवं प्रतिष्ठा पूर्ववत बनी रही और बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेशों को कार्यरूप में परिणित होने का सूत्रपात हुआ। बुद्ध द्वारा दिए गए निर्देशों के अनुरूप उनके अस्थि-अवशेषों पर विभिन्न शासकों-गणप्रमुखों द्वारा चौरास्तों पर स्तूप निर्माण कर पूजा करने का सन्दर्भ ज्ञात होता है।[7] क्रमिक विकास के अन्तर्गत बुद्ध के जीवन की अति महत्त्वपूर्ण घटनाओं – जन्म, सम्बोधि-प्राप्ति, धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा मृत्यु,से सम्बद्ध स्थानों, क्रमशः लुम्बिनी, गया, ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) तथा कुशीनारा को बौद्ध तीर्थस्थल के रूप में स्वीकार किया जाता है।[8]

गौतम बुद्ध की अस्थि-अवशेषों के वितरण में विभिन्न शासकों-गणप्रमुखों के साथ ही अजातशत्रु द्वारा स्वयं कुशीनारा जाकर अस्थियों को ग्रहण करना समकालीन राजतंत्र का बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग प्रदर्शित करता है।[9] यहीं से बुद्ध की मंशानुरूप बौद्ध स्तूपों के निर्माण की प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ तथा भव्य स्तूपों के निर्माण का महत्त्वपूर्ण चरण प्रारम्भ हुआ।[10] इन स्तूपों के निर्माण से स्तूप-स्थापत्य का अभ्युदय हुआ। भव्य एवं कलात्मक स्तूपों के निर्माण से बौद्ध कला के रूप में इसके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्वयं बौद्ध परम्परा बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर अनेक स्तूपों के निर्माण की सूचना देती है।[11]

यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के सामान्य अध्ययन से स्वयं बुद्ध के काल में ही अनेक शिथिलाचारी बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के शिथिलाचारी लोगों में षड्वर्गीय भिक्षु-भिक्षुणियों को पृथक् से पहचाना भी गया है। अनेक अवसरों पर ये बुद्धोपदेशों की अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्या कर लाभ-सत्कार प्राप्त करते भी दिखाई देते हैं। यद्यपि बुद्ध के समर्थ नेतृत्व एवं महिमा-मण्डित व्यक्तित्व से ऐसे लोगों पर अंकुश बना रहा। सम्भवतः यही कारण था कि बुद्ध के निर्वाण पर जहाँ भिक्षु-भिक्षुणियाँ

व्यथित एवं शोकग्रस्त दिखाई देते हैं वहीं कुछ प्रसन्नता भी व्यक्त करते हैं। उनके निर्वाण के अवसर पर सुभद्द के मन्तव्य "अच्छा हुआ बुद्ध दिवंगत हो गए, अब हम उनके उपदेशों की मनचाही व्याख्या कर सकते हैं" को ज्वलन्त प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[12] निश्चय ही बौद्ध धर्म-संघ के भविष्य की दृष्टि से यह एक आसन्न संकट था।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि सुभद्द की मंशा से व्यथित महाकाश्यप ने धर्म-संघ के प्रति कोई बड़ा विद्रोह न हो, की आशंका को दृष्टि में रखते हुए बुद्ध-वचनों के स्थायित्व के लिए संगीति के आयोजन का निश्चय किया।[13] महाकाश्यप की अध्यक्षता में प्रथम संगीति के बाद तो कुछ वर्षों तक धर्म-संघ की परिस्थितियाँ ठीक रहीं किन्तु ऐसा लगता है कि चतुर्निश्रय में मिले अतिरेक लाभों ने भिक्षुओं को लालची एवं संग्रहशील मानव में परिवर्तित कर दिया था। जिससे वे लोगों से अविहित वस्तुएँ – सोना, चाँदी, मुद्रा आदि की भी निःसंकोच माँग करने लगे थे। इसका काकण्डक-पुत्र यश द्वारा विरोध करने पर द्वितीय संगीति का आयोजन हुआ। यद्यपि अविहित वस्तुओं की माँग वज्जि क्षेत्र-विशेष के भिक्षुओं द्वारा की जा रही थी,[14] जिससे अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः द्वितीय संगीति के पूर्व ही भिक्षुओं का क्षेत्रवार विभाजन हो चुका था। यद्यपि द्वितीय संगीति के आयोजन का कुछ विशेष परिणाम तो नहीं हुआ, संघ-भेद का मार्ग अवश्य प्रशस्त हो गया।

बुद्ध के परिनिर्वाणोत्तर बौद्ध धर्म-संघ की बहुविध वृद्धि-समृद्धि में विभिन्न वर्गों की महत्त्वपूर्ण भूमिका परिलक्षित होती है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, अजातशत्रु की सद्धर्म श्रद्धा तो सर्वविदित है ही, साथ ही उसके उत्तराधिकारियों में उदायिन और मुण्ड के धर्म-संघ के प्रति निष्ठा के अनेक प्रसंग मिलते हैं। उदायिन का बुद्ध-वचनों के संग्रहण में महत्त्वपूर्ण स्थान था।[15] तारानाथ उदायिन के शासनकाल में ही आनन्द के शिष्य मध्यान्तिक को कश्मीर में सद्धर्म के प्रचार-प्रसार का श्रेय देते हैं।[16] यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इस प्रकार के मन्तव्य का खण्डन करते हुए अशोक के पूर्व कश्मीर में बौद्ध धर्म-संघ के प्रचार-प्रसार को असंगत कहा

है।[17] परन्तु इसे सर्वांश में सत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। निश्चय ही अशोक के द्वारा सद्धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए चुने गए स्थलों में कश्मीर भी एक था लेकिन इस क्षेत्र में मध्यान्तिक ने ही सद्धर्म का बीजारोपण कर दिया हो – जैसे तथ्य को असम्भव मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

उदायिन के पश्चात् अनुरूद्ध, मुण्ड एवं नागपासक के क्रमशः प्रशासक होने का उल्लेख मिलता है। बौद्ध धर्म-संघ के प्रति श्रद्धा की दृष्टि से इनमें से केवल मुण्ड का ही विशिष्ट स्थान दिखाई देता है। इसका अपनी पत्नी सुभद्दा के मरणोपरान्त आयुष्मान नारद का उपदेश सुनने जाने का विवरण प्राप्त होता है।[18]

प्रारम्भिक पालि परम्परा में शिशुनाग के उत्तराधिकारी कालाशोक का विशिष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है। वह एक प्रभावशाली बौद्ध समर्थक के रूप में दिखाई देता है। द्वितीय संगीति के विवरण से ऐसा लगता है कि इस संगीति के आयोजन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।[19] महावंश के विवरणानुसार यद्यपि पूर्व में यह प्राचीनक भिक्षुओं के पक्ष में था, किन्तु बाद में अपनी भिक्षुणी बहन नन्दा के आग्रह पर इसने पाठेय्यक भिक्षुओं का समर्थन किया।[20] सद्धर्म के भौगोलिक विस्तार में इसकी भूमिका का अनुमान किया जा सकता है। अग्गलपुर तथा उदुम्बर जैसे क्षेत्रों में[21] धर्म-संघ के विकास-विस्तार को इसी के शासनकाल की देन मानना चाहिए।

कालाशोक के उत्तराधिकारी शूरसेन का धर्म-संघ की बहुविध सहायता एवं प्रश्रय देने का सन्दर्भ मिलता है। तारानाथ और मंजूश्री मूलकल्प के अनुसार तो इसने विविध क्षेत्रों के बौद्ध भिक्षुओं की वर्षों तक सहायता की और चैत्यों को अपेक्षित वस्तुएँ प्रदान कीं।[22] भले ही इस प्रकार के विवरण में कुछ अतिशयोक्ति हो; किन्तु इससे शूरसेन के सद्धर्म-साहाय्य की बात को बल अवश्य मिलता है।

परवर्ती ग्रन्थों के अनुसार शूरसेन के अनन्तर शासनाधिष्ट महापद्म नन्द द्वारा भी सद्धर्म की बहुविध सहायता करने का उल्लेख मिलता है।

यही नहीं, इसने अपने गुरु कल्याण मित्र को धन देकर बुद्ध के अस्थिवशेषों पर चैत्यों के निर्माण हेतु प्रोत्साहित किया। जीवन के अन्तिम क्षणों तक यह बौद्ध उपासक बना रहा।[23]

मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार का सद्धर्म के प्रति सहायता एवं श्रद्धा का कोई भी सन्दर्भ ज्ञात नहीं होता है। हाँ, यह मौर्य शासक अशोक के समग हुई सद्धर्म की आश्चर्यजनक समृद्धि को देखते हुए यह अवश्य लगता है, कि इनके समय में सद्धर्म के विस्तार की गति मन्द भले ही रही हो; परन्तु वह प्रसारमान रहा।

बौद्ध धर्म संघ की क्षेत्रीय समृद्धि में शासकों की प्रश्रयानुकूलता के साथ ही संघीय सदस्यों तथा जन-सामान्य का भी विशेष साहाय्य था। यद्यपि स्पष्ट नामधारी एवं निश्चित पहचान वाले व्यक्तियों की अल्पता है। परिनिर्वाणोत्तरकालीन कुछ महत्त्वपूर्ण भिक्षुओं की स्पष्ट पहचान ज्ञात होती है जिनमें से कुछ तो स्वयं बुद्ध के समकालीन थे तथा कुछ बुद्ध के उपरान्त के लक्षित होते हैं। जहाँ बुद्ध के अन्तिम संस्कार एवं अस्थि-वितरण में ब्राह्मण भिक्षुओं - महाकाश्यप एवं द्रोण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा,[24] वहीं निम्नकर्मी भिक्षु सुभद्द की भूमिका प्रथम संगीति के कारक के रूप में लक्षित होती है।[25] इसके अतिरिक्त सम्भूत साणवासी, यशकाकण्ड-पुत्र, सर्वकामी तथा रेवत आदि की भी द्वितीय संगीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। धर्म-विनय के संग्रहीकरण के प्रयासों में आनन्द की महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ ही निम्नकर्मी उपालि का भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है।[26]

बौद्ध धर्म-संघ की बहुविध वृद्धि-समृद्धि के सामान्य अध्ययन से सर्वक्षेत्रीय समृद्धि पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि द्वितीय संगीति के अवसर पर खुली परिषद में वाद-विवाद की सम्भावना को देखते हुए स्वयं बुद्ध के समय में सैद्धान्तिक रूप से ज्ञात उद्वाहिका परिषद को रेवत के आग्रह पर प्रथम बार व्यावहारिक स्वरूप मिला।[27] इसी समय सुविधाभोगी भिक्षुओं द्वारा भोजन आदि के नियमों में शिथिलता की माँग उनके द्वारा कठिन आचार को त्यागकर शिथिलता की ओर अग्रसर होने का संकेत करती है।[28]

प्रारम्भिक पालि परम्परा के अनुशीलन से बुद्ध के मरणोपरान्त संघ-भेद का उल्लेख मिलता है और संघ-भेद के परिणामस्वरूप 18 विभिन्न सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों का ज्ञान होता है। इस विवेच्यावधि में ही भिक्षुओं में क्षेत्रीयता का भाव दिखाई देता है तथा वज्जि के भिक्षु, पावा के भिक्षु एवं अवन्ति के भिक्षु जैसे सम्बोधन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। उल्लेखनीय है कि द्वितीय संगीति में अवन्ति के 88 भिक्षुओं की सहभागिता से ज्ञात होता है कि यह अवन्ति क्षेत्र सद्धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में विख्यात हो चुका था। इसके अतिरिक्त सद्धर्म का विकास-विस्तार सौरेय्य, संकास्य, कान्यकुब्ज, उदुम्बर, अग्गलपुर, अहोगङ्ग पर्वत जैसे क्षेत्रों में हो रहा था। इनमें भी सौरेय्य, उदुम्बर, अग्गलपुर जैसे स्थलों का सद्धर्म की श्रद्धालुता की दृष्टि से इस द्वितीय संगीति के अवसर पर ही प्रथम बार उल्लेख मिलता है।

बुद्धानुशासन के संग्रहीकरण का प्रयास एवं संगीतियों का आयोजन

उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि स्वयँ बुद्ध के समय में भिक्षुओं की रुझान भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर अग्रसर होती है और उनके निर्वाणोपरान्त इसमें आश्चर्यजनक वृद्धि का भान होता है। बुद्ध एवं सद्धर्म के प्रति श्रद्धा-भाव तो पूर्ववत रहता है, किन्तु बुद्ध-वचनों के अनुपालन में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। बुद्ध के निर्वाण पर प्रसन्नता का भाव इस तथ्य की पुष्टि करता है।[29] बौद्ध धर्म रूपी धार्मिक साम्राज्य के गौतम बुद्ध एक समर्थ नायक के रूप में लक्षित होते हैं। उनके निर्वाणोपरान्त महाकाश्यप का प्रभुत्व बढ़ता है। बुद्ध के अन्तिम संस्कार के लिए उनकी प्रतीक्षा की जाती है।[30] बुद्धोपदेशों के व्यवस्थापन एवं भिक्षुओं के नियमन-संयमन के निमित्त वे प्रथम संगीति का आयोजन करते हैं और उसमें अध्यक्ष बनाए जाते हैं।[31] भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक-उपासिकाएँ उनका सम्मान करती हैं। इस प्रकार वे संघ के नेतृत्वकर्ता के रूप में उभरकर आते हैं। परन्तु वे बुद्ध के स्थानापन्न हो गए – ऐसा कहना सम्भव नहीं लगता, क्योंकि स्वयं प्रथम संगीति के निर्णय को पुराण कश्यप की अध्यक्षता में भिक्षुओं का एक वर्ग अपनी शर्तों के पूरी होने तक मानने से मना कर देता है।[32] यद्यपि कुछ

संशोधन-परिवर्द्धन के साथ वे उसे स्वीकार कर लेते हैं[33] और महाकश्यप का वर्चस्व बना रह जाता है। अतः बुद्ध के नियमानुशासन के संग्रहीकरण में महाकश्यप को न्यूनाधिक सफलता मिलती है और इसके साथ ही बुद्ध के परिनिर्वाणोत्तर एक नवीन युग का समारम्भ होता है तथा अशोक तक वह उत्कर्ष को प्राप्त करता है। इस युग के बौद्ध धर्म के संवर्द्धन में समय-समय पर हुई संगीतियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार करना चाहिए।

प्रथम संगीति

प्रथम संगीति से सम्बद्ध विवरण विभिन्न बौद्ध परम्पराओं – तिब्बती, चीनी, सिंहली आदि, में यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होता है किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से चुल्लवग्ग के पञ्चशतिका स्कन्धक का विशिष्ट महत्त्व है। यद्यपि प्रथम संगीति के आयोजन की ऐतिहासिकता में तो कोई संशय नहीं है[34] परन्तु इसमें सम्पादित विषयवस्तु एवं कृत्यों को पूर्ण रूप से असंदिग्ध नहीं माना जा सकता।

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के अनन्तर प्रथम संगीति का आयोजन महाकश्यप की अध्यक्षता में राजगृह में हुआ।[35] यद्यपि यह संगीति राजगृह में किस स्थान पर आयोजित की गई, इसका कोई निश्चित समीकरण तो सम्भव नहीं लगता, परन्तु अजातशत्रु के संरक्षण में हुई संगीति से सद्धर्म के प्रति उसकी सद्धर्म-श्रद्धा में कोई संशय नहीं रहता है। यद्यपि चुल्लवग्ग में प्रथम संगीति से सम्बद्ध विवरण में अजातशत्रु का नामोल्लेख तक प्राप्त नहीं होता, परन्तु तिब्बती, दुल्व, महावंश और समन्तपासादिका के विवरणों में संगीति के प्रबन्धन का श्रेय अजातशत्रु को ही दिया गया है।[36]

जैसा कि ऊपर एकाधिक स्थलों पर अनुषंगतः उल्लेख किया जा चुका है कि इस संगीति के आयोजन की मूल मंशा बुद्ध के बाद सद्धर्म को किस प्रकार अनुचालित किया जाय लगती है क्योंकि धर्म-प्रमुख के निर्वाणोपरान्त अनेक प्रकार के मतभेदों की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता है। इसी

परिप्रेक्ष्य में कतिपय विद्वानों ने सुभद्द के विचार स्वातंत्र्य सम्बन्धी कथानक को मूल कारक के रूप में विश्लेषित करने की चेष्टा की है, जो कि वर्णित रूप में स्वाभाविक भी लगती है। ऐसा लगता है कि सुभद्द के वक्तव्य से सद्धर्म के स्थायित्व पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका थी। अतः बुद्धोपदेशों को चिर्काल तक सुरक्षित रखने के लिए महाकश्यप ने धर्म-संगायन हेतु प्रथम संगीति के आयोजन को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।[37]

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के सामान्य अनुशीलन से प्रथम बौद्ध परिषद में सम्पादित महत्त्वपूर्ण विषयों – विनय एवं सुत्त संगायन, आनन्द पर लगे आरोपों का परीक्षण तथा छन्न को दिए जाने वाले ब्रह्मदण्ड, के अनुमोदन पर, प्रकाश पड़ता है।

प्रारम्भिक एवं परवर्ती बौद्ध साहित्य के अनुसार इस संगीति में आनन्द सहित लगभग 500 अर्हत भिक्षुओं ने भाग लिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आनन्द स्वयं अनर्हत थे। अतः इस दृष्टि से वे संगीति में भाग लेने के अधिकारी नहीं थे। किन्तु सम्भवतः बुद्ध के प्रिय शिष्य होने के कारण उन्हें परिषद में सम्मिलित किया गया। विनय से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के संगायन में उपालि की विशिष्ट भूमिका थी। महाकाश्यप द्वारा पूछे गए विनय सम्बन्धी प्रश्नों के उन्होंने यथेष्ट उत्तर दिए जिससे लगता है कि विनय सम्बन्धी संगायन के लिए बौद्ध भिक्षुओं में निम्नकर्मी उपालि का चयन ही श्रेष्ठ था।[38] स्वयं बुद्ध ने उन्हें विनयधरों में अग्र भी घोषित किया था। कतिपय विद्वानों ने उपालि से पूछे गए प्रश्नों को प्रातिमोक्ष से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है।[39] इसी प्रकार पञ्च निकायों से सम्बद्ध सद्धर्म सम्बन्धी प्रश्नों के आनन्द ने भी संगत उत्तर देकर परिषद को सन्तुष्ट किया।[40] इसके उपरान्त आनन्द ने क्षुद्राकानुक्षुद्र नियमों में बुद्ध के निर्देशानुसार संशोधन-परिवर्द्धन सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किया।[41] आनन्द भी बुद्ध से क्षुद्रकानुक्षुद्र नियमों की विषयवस्तु को स्पष्टतः ग्रहण नहीं कर सके थे और इसके लिए उन्हें आरोपित भी किया गया था। अतः परिषद में उपस्थित भिक्षुओं में क्षुद्रकानुक्षुद्र सम्बन्धी नियमों-उपनियमों के सन्दर्भ में परस्पर विवाद बना रहा। कभी पाराजिक को, कभी संघादिशेष को छोड़कर शेष

नियमों को क्षुद्रकानकुक्षुद्र बताया जाने लगा। क्षुद्रकानकुक्षुद्र सम्बन्धी विवरण अपने प्रस्तुत स्वरूप में अत्यन्त भ्रामक दिखाई देता है तथा भिक्षुओं के परस्पर मतभेदों से इसकी पुष्टि भी होती है। अतः कतिपय विद्वानों का यह मत भी उचित लगता है कि सम्भवतः इस प्रथम परिषद में सम्पूर्ण धर्म-विनय का संगायन ही नहीं हुआ।[42]

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इस संगीति की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि गम्भीर आरोपों से ग्रसित होने के उपरान्त भी आनन्द को प्रथम परिषद हेतु चुना गया। इसके पीछे उनके बुद्ध से घनिष्ट सम्बन्ध होने को स्वीकार किया जाता है। पालि परम्परा आनन्द के ऊपर पाँच आरोपों का उल्लेख करती है –

(1) बुद्ध के चीवर को पैर के नीचे दबाकर सीना।

(2) महिलाओं को प्रथमतः बुद्ध के दर्शन की अनुमति देना।

(3) छोटे-छोटे नियमों-उपनियमों (क्षुद्रकानुक्षुद्र) का बुद्ध से निर्धारण के लिए अनुरोध न करना।

(4) बुद्ध की इच्छा के उपरान्त भी उन्हें जीने के लिए न कहना।

(5) स्त्रियों के संघ-प्रवेश हेतु उत्सुकता दर्शाना।[43]

यद्यपि उक्त आरोपों की गणना में पर्याप्त मतभेद हैं। तिब्बती दुल्व इन आरोपों के अतिरिक्त आनन्द के ऊपर दो अन्य आरोपों का भी विवरण प्रस्तुत करता है - (1) बुद्ध द्वारा आनन्द से तीन बार पानी माँगने पर भी न देना। (2) दुश्चरित्र स्त्री-पुरूषों को बुद्ध के गुप्तांगों के दर्शन की अनुमति देना।[44] यद्यपि इन आरोपों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है।

आनन्द ने अपने ऊपर लगाए गए सभी आरोपों के न केवल सन्तोषपरक उत्तर दिए अपितु भिक्षुओं की गुरुता का सम्मान करते हुए उनसे क्षमा-याचना भी की। उल्लेखनीय है कि धर्म-संगायन के पूर्व ही आनन्द अर्हत हो गए थे तथा पालि परम्परा में अर्हत प्रायः दोषमुक्त माने जाते हैं। अतः आनन्द के ऊपर यह दोष-देशना विस्मयावह लगती है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने तो

इसे क्षेपक के रूप में देखने की चेष्टा की है और इसे अर्हतों के प्रभाव को कम करने का प्रयास माना है।[45]

इसी प्रथम परिषद में बुद्ध के सारथी छन्न को ब्रह्मदण्ड देने का विवरण मिलता है। ब्रह्मदण्ड का विधान तो स्वयं बुद्ध ने निर्मित किया था तथा इस ब्रह्मदण्ड का अपराधी भी छन्न को स्वयं बुद्ध ने घोषित किया था, किन्तु उसे दण्ड देने के पूर्व ही वे निर्वाण को प्राप्त हो गए।[46] छन्न के सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है कि उसने कभी-न-कभी संघ के समस्त वरिष्ठ-कनिष्ठ सदस्यों का अपमान किया था।[47] सम्भवतः उसके इसी आचरण के कारण उसे बुद्ध ने ब्रह्मदण्ड की सजा देने का निश्चय किया था। छन्न को ब्रह्मदण्ड देने की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी आनन्द को सौंपी गई। आनन्द का, पाँच सौ भिक्षुओं के साथ उसे ब्रह्मदण्ड देने के लिए कौशाम्बी-गमन का विवरण मिलता है। यदि भिक्षुओं की संख्यात्मक रूढ़ता को छोड़ दिया जाए तो भी अनेक भिक्षुओं का मात्र एक भिक्षु को दण्डित करने हेतु प्रस्थान करना उस भिक्षु के अत्यन्त शक्तिशाली होने की ओर संकेत करता है। यद्यपि ब्रह्मदण्ड के पूर्व ही अर्हत्व प्राप्त कर लेने पर आनन्द ने छन्न के दोषमुक्त होने की घोषणा कर दी थी।[48]

उपलब्ध विवरणों से ऐसा लगता है कि इस संगीति में समस्त क्षेत्रों के भिक्षुओं का प्रतिनिधित्व नहीं था - सम्भवतः इसमें राजगृह के समीपवर्ती भिक्षुओं का प्राधान्य था।[49] अतः अनेक विद्वानों ने इस संगीति को सार्वभौमिक संगीति स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त की है। पुराण जैसे भिक्षुओं की इस संगीति के असहमति आदि से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[50]

द्वितीय संगीति

बुद्ध निर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष के अनन्तर वैशाली में कालाशोक के शासनकाल में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ। विभिन्न बौद्ध परम्पराओं के अतिरिक्त अनेक परवर्ती ग्रन्थों में भी द्वितीय संगीति का विवरण प्राप्त होता है।[51] अनेक आधुनिक विद्वानों ने उक्त ग्रन्थों के आधार पर संगीति के कार्य-विवरण एवं उसकी ऐतिहासिकता का अध्ययन किया

है।[52] पालि साहित्य के सामान्य अध्ययन से विदित होता है कि इस द्वितीय संगीति का आयोजन भिक्षुओं में आ रहे शिथिलाचार को रोकने, उनके जीवन के नियमन-संयमन तथा आपसी मतभेदों को समाप्त करने हेतु किया गया था।

प्राप्त विवरण के अनुसार वज्जिपुत्तक (प्राचीनक) भिक्षु स्वयं को बुद्ध के जन्म-क्षेत्र से सम्बद्ध कर दस विशिष्ट सुविधाओं की माँग करते दिखाई देते हैं, जिन्हें पालि साहित्य में "दसकप्प" या दस कल्प के नाम से भी अभिहित किया जाता है। ये दसकप्प निम्नलिखित हैं –

(1) सिंगिलोण कप्प	:	खाली सीग में नमक भरकर ले जाना।
(2) द्वांगुल कप्प	:	जब छाया दो अंगुल चौड़ी हो तब भी भोजन करना।
(3) गामन्तर कप्प	:	एक ही दिन में दूसरे गांव जाकर दूसरी बार भी भोजन करना।
(4) आवास कप्प	:	एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथ करना।
(5) अनुमति कप्प	:	किसी कार्य को करने के बाद उसकी अनुमति लेना।
(6) आचिण्ण कप्प	:	रूढ़ियों को ही शास्त्र मान लेना।
(7) अमथित कप्प	:	भोजन के बाद छाछ पीना।
(8) जलोगिम्पातुम कप्प	:	ताड़ी पीना।
(9) अदसकम निसिदानम कप्प	:	जिसके किनारे न हों ऐसे कम्बल या रजाई का प्रयोग करना।
(10) जातरुपरजत कप्प	:	स्वर्ण-रजत भी दान के रूप में स्वीकार करना।[53]

इन कल्पों की व्याख्या विवादग्रस्त है तथा प्रमुख रूप से उक्त कल्प भोजनादि तथा दान से सम्बद्ध दिखाई देते हैं। उक्त माँगों (कल्पों) को काकण्डक-पुत्र यश स्वीकार नहीं करता था तथा इसी को लेकर उसका

वज्जि के भिक्षुओं से विवाद हुआ एवं उन्होंने काकण्डक-पुत्र यश को संघ से निष्कासित करने जैसे दण्ड से प्रताड़ित करने का प्रयास किया। काकण्डक-पुत्र यश द्वारा अपने पक्ष के समर्थन के फलस्वरूप द्वितीय संगीति का आयोजन हुआ। यश को अपने पक्ष में प्रथम समर्थन कौशाम्बी के भिक्षुओं से प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त अहोगङ्ग पर्वत-वासी, सम्भूतसाणवासी जैसे भिक्षुओं ने भी इसका समर्थन किया। यश ने अपने दूतों के माध्यम से पावा एवं अवन्ति के भिक्षुओं को भी अपने समर्थन हेतु आमंत्रित किया जिसमें पावा के 60 तथा अवन्ति के 88 अर्हत भिक्षु सम्मिलित भी हुए थे। यही नहीं, प्रारम्भ में तटस्थ दिखाई देने वाले प्रतिष्ठित भिक्षु रेवत ने यश का समर्थन करना स्वीकार किया। यश के इस प्रकार के प्रयासों को निष्फल करने हेतु वज्जि के भिक्षुओं ने उपहार आदि देकर रेवत को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। वे रेवत से मात्र इतना चाहते थे कि बुद्ध के जन्म-स्थल से सम्बद्ध होने के नाते वज्जिपुत्तकों को रेवत धर्मवादी तथा शेष को अधर्मवादी घोषित करें, परन्तु रेवत ने इसमें असमर्थता व्यक्त की।[54] हाँ, वज्जिपुत्तकों ने इनके शिष्य उत्तर को अवश्य अपने पक्ष में कर लिया, किन्तु वह भी समर्थन करने में असफल रहा। इस संगीति का संरक्षक कालाशोक प्रथमतः तो वज्जिपुत्तकों का समर्थक था, परन्तु अपनी भिक्षुणी बहन नन्दा से वस्तुस्थिति का ज्ञान होने पर पाठेय्यक भिक्षुओं का पक्षपोषक बन गया।[55]

रेवत जैसे पश्चिमक भिक्षुओं ने वैशाली के तत्कालीन वयोवृद्ध वरिष्ठ भिक्षु सर्वकामी की अध्यक्षता में सात सौ भिक्षुओं की सभा का आयोजन किया। अजित स्थान-नियंत्रक बनाए गए, किन्तु खुली सभा में विवाद की अधिक सम्भावना देखते हुए उद्वाहिका परिषद का चयन हुआ[56] जिसमें पूर्वी और पश्चिमी भिक्षुओं के क्रमशः चार-चार, सर्वकामी, साढ़, क्षुद्रशोभित, वार्षभग्रामिक तथा आयुष्मान रेवत, सम्भूत, साणवासी, यश काकण्डक-पुत्र और सुमन नामक भिक्षु सम्मिलित थे। आयुष्मान रेवत और सर्वकामी ने आपसी सहमति से उपरिलिखित दस कल्पों को विनय के विपरीत बताया जिसे सात सौ अर्हतों की सभा ने अनुमोदित किया; परन्तु इसके बावजूद

संघ चिरस्थायी न रह सका बल्कि उसमें विभाजन हो गया तथा महासंघिक अलग हो गए।[57]

इसके अतिरिक्त वसुमित्र, भव्य एवं विनीतदेव इस द्वितीय संगीति एवं संघ-भेद के पीछे महादेव नामक सम्मानित भिक्षु के अर्हतों की योग्यता से सम्बद्ध पञ्च सिद्धान्तों –

(1) अर्हत अनजाने आकर्षण के कारण पाप कर सकता है।

(2) कोई अर्हत ऐसा भी हो सकता है जिसे अपने अर्हतपन का ज्ञान ही न हो।

(3) बिना शास्ता के अर्हत होना सम्भव नहीं है।

(4) अर्हत भी सैद्धान्तिक दृष्टि से संशयग्रस्त हो सकते हैं।

(5) अट्ठमग्ग का पाठ गम्भीरतापूर्वक सद्धर्म का विचार करते हुए दुःख और आश्चर्य के सम्बोधन से शुरू होकर उसी पर समाप्त होना चाहिए।

को प्रमुख कारक के रूप में स्वीकार करते हैं।[58] यद्यपि यह विवादास्पद है कि संघ-भेद का मुख्य कारण वैनयिक "दस कप्प" थे या महादेव के "पञ्च प्रस्ताव"। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सम्मितीय परम्परा पञ्च सिद्धान्त के प्रस्तावक के रूप में महादेव का उल्लेख करती है। कतिपय विद्वानों ने भद्र एवं महादेव को साम्यता के आधार पर एक ही मानने का प्रयास किया है, किन्तु यह सन्देहजनित लगता है।[59]

द्वितीय संगीति के सामान्य अध्ययन से जहाँ बौद्ध संघ की कार्य-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है, वहीं उद्वाहिका परिषद का प्रथम बार कार्यरत स्वरूप दिखाई देता है। अवन्ति और पावा के भिक्षुओं की सहभागिता से उक्त क्षेत्रों में सद्धर्म की सुदृढ़ स्थिति का अनुमान होता है तथा अग्गलपुर, उदुम्बर एवं सौरेय्य जैसे क्षेत्रों का सद्धर्म की दृष्टि से प्रथम बार उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त भिक्षुओं में क्षेत्रीयता एवं बुद्ध के जन्म-स्थान से सम्बद्ध होने के कारण श्रेष्ठता का भाव विदित होता है। द्वितीय संगीति के विवरण से एक धारणा यह भी बनती दिखाई देती है कि समकालीन परिवेश में भिन्न-भिन्न भिक्षु अलग-अलग समूहों में विभाजित थे तथा उनमें परस्पर मतभेद का भाव निहित था तथा वे पूर्वाग्रह से ग्रस्त थे और यही कारण था

कि संगीतियों का मूल प्रयोजन संघ-भेद को रोकने की अपेक्षा संघ-भेद का नायक बन गया।

वैचारिक मत-मतान्तर एवं सम्प्रदाय भेद

बुद्ध से लेकर अशोक तक के बौद्ध धर्म की बहुविध वृद्धि-समृद्धि के सामान्य अध्ययन से प्रायः सुविदित है कि जहाँ बुद्ध के जीवनकाल में संघ एवं सद्धर्म का सत्वर विकास हुआ वहीं मन्द गति से ही सही परन्तु उनके निर्वाण के बाद भी सद्धर्म प्रवर्धमान रहा। सांख्यिक और आर्थिक समृद्धि के साथ ही सैद्धान्तिक परिपक्वता आई और इन सबने वैचारिक मत-मतान्तरों को जन्म दिया, सम्प्रदाय-भेद को बल मिला। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के प्रकाश में स्वयं बुद्ध के समय में भी भिक्षुओं में मत-मतान्तर अज्ञात नहीं लगता, बल्कि आचार्यवाद, विचार-स्वातंत्र्य आदि से इसको बढ़ावा ही मिला और बुद्ध के बाद किसी एक सर्वमान्य नियामक के अभाव में वैचारिक मत-मतान्तर को तीव्रता मिली तथा स्वयं बुद्ध के परिनिर्वाण एवं अशोक के पूर्व बौद्ध संघ अनेक सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया। यहाँ सम्प्रदाय-भेद के हेतुभूत प्रत्यय और विविध सम्प्रदायों के स्वरूप की विश्लेषणा का प्रयास किया जाएगा।

पालि साहित्य के सामान्य विश्लेषण से सुज्ञात होता है कि बुद्ध स्वयं अपने जीवनकाल में तो भिक्षुओं के विचार-स्वातंत्र्य पर बल देते ही थे, कर्म के प्रति सजग रहने के उत्प्रेरक थे बल्कि अपने निर्वाणोत्तर शास्ता की परम्परा के विरोधी थे और उनके आत्मदीप, आत्मशरण, धम्मदीप, धम्मशरण होने के पक्षधर थे।[60] सम्भवतः यही कारण था कि भिक्षु-नियमों की अपने अनुरूप सुविधाजनक व्याख्या के प्रति समुत्सुक हुए। शिथिलाचार को बढ़ावा मिलने लगा एवं अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति बढ़ी।

निश्चय ही इस प्रकार की परिस्थिति ने वैचारिक मत-मतान्तर और तदनुरूप सम्प्रदाय-भेद के लिए उर्वरा भूमि का काम किया। बुद्धकालीन उपाध्याय, आचार्य तथा उनकी अलग-अलग शिष्य परम्परा से इसको और अधिक बल मिला।[61] वैसे भी सुदूर क्षेत्र में विकसित इतने बड़े धर्म-संघ का

बिना किसी नेता के समुचित अनुशासन सम्भव नहीं लगता है – अतः बुद्ध के निर्वाणोत्तर उनका शास्ता-विरोधी मन्तव्य अव्यावहारिक बन गया और अपरोक्ष ही सही, शास्ता बनने की होड़-सी लग गई।

बुद्ध के शास्ताविहीन धर्म-संघ का अनुपालन अधिक दिनों तक सम्भव नहीं रहा या फिर यूँ कहा जाए कि संघ कभी भी नेतृत्वविहीन न रहा और उसमें बुद्ध के निर्देशों के विपरीत भी आचार्यवाद निरन्तर प्रभाव प्राप्त करता रहा। स्वयं बुद्ध के काल में अनेक आचार्यों, उपाध्यायों के साथ उनके शिष्यों को विचरण करते देखा जा सकता है और अपने गुरुजनों के प्रति प्रतिबद्ध रहने और उनके अतिरिक्त किसी अन्य से विचार-विमर्श न करने का निर्देश भी मिलता है।[62] इस दृष्टि से प्रमुख आचार्यों के रूप में सारिपुत्र, महाकाश्यप, मौदगल्यायन आदि को परिगणित किया जा सकता है। यही नहीं, कालान्तर में न केवल बुद्ध के बल्कि उक्त सभी प्रतिष्ठित भिक्षुओं के निर्वाणोत्तर भी आचार्यवाद की परम्परा निरन्तर चलती रही और ये लोग बाद में पृथक सम्प्रदायों के अधिनायक देव के रूप में प्रतिष्ठित हुए और इनका स्थान इनके शिष्यों ने लिया। अनेक परवर्ती सन्दर्भों से भी सम्प्रदाय-भेद में आचार्यवाद की भूमिका का विवरण ज्ञात होता है। चीनी यात्री युवान-च्वाँग बुद्ध के एक हजार वर्ष पश्चात् यह विवरण प्रस्तुत करता है कि अभिधार्मिक सारिपुत्र की, विनयी उपालि की, भिक्षुणियाँ आनन्द की तथा सूत्रवादी पूर्णमन्तानि-पुत्र की पूजा करते थे।[63] इसके अतिरिक्त परवर्ती अनेक सम्प्रदाय भी येन-केन-प्रकारेण बुद्धकालीन सम्मानित भिक्षुओं को अपने आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करते दिखाई देते हैं।[64] गौतम बुद्ध द्वारा यदा-कदा चतुर्निश्रयों तथा अन्य नियमोपनियमों के माध्यम से दिए गए अतिरिक्त लाभों ने भी भिक्षुओं को सामाजिक जीवन की ओर उन्मुख किया। अतः कुछ विद्वानों का यह कथन कि बुद्ध-निर्वाण के अवसर पर तो यह संघ बिना सिद्धान्त, बिना वैनयिक संस्थान के तपस्वियों का समूह मात्र था, उचित लगता है।[65]

इन सब तथ्यों की विश्लेषणा से प्रायः स्पष्ट है कि संघ-भेद के लिए बुद्ध के अनन्तर परिस्थितियों में आए बदलाव तो तात्कालिक कारण थे ही,

बल्कि सम्प्रदाय-भेद के बीज स्वयं बुद्ध द्वारा विधानित आचार्यवाद की परम्परा आदि में भी विद्यमान थे। विद्वानों का यह सामान्य अभिमत कि अशोक के समय तक या अशोक के पूर्व बौद्ध संघ 18 सम्प्रदायोपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया था, सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु विविध सम्प्रदायों के अध्ययन से प्रायः विदित है कि अशोक के समय तक बौद्ध धर्म-संघ कई सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था।

अस्तित्व में आए इन सम्प्रदायों के उद्‌भव एवं विकास-क्रम का विभिन्न स्रोतो से ज्ञान होता है। इन स्रोतों में सिंहली परम्परा के ग्रन्थ दीपवंश, महावंश, इत्सिंग का यात्रा-विवरण, तारानाथकृत इतिहास तथा वसुमित्र, भव्यदेव, विनीतदेव की रचनाएँ महाव्युत्पत्ति आदि प्रमुख हैं। यद्यपि ये समस्त सन्दर्भ बुद्ध-निर्वाण के सैकड़ों वर्षो के बाद के, हैं परन्तु इनमें इस बात को लेकर जहाँ ऐक्य है कि सम्प्रदायोपसम्प्रदायों का क्रमिक विकास हुआ, वहीं समय और पूर्वापर क्रम के सन्दर्भ में वैमत्य है।

यहाँ इन स्रोतों के प्रकाश में उन विशेष सम्प्रदायों के स्वरूप-निर्धारण एवं सामान्य परिचयोल्लेख का प्रयास होगा जिन्हें अशोक के पूर्व रखा जा सकता है तथा जिनके बारे में उपलब्ध सूचनाएँ प्रायः प्रामाणिक हैं।

प्रायः समस्त परम्पराएँ इस बात पर एकमत हैं कि सर्वप्रथम मूल संघ से महासंघिक पृथक् हुए, परन्तु इसके कारण के सन्दर्भ में किञ्चित् विवाद है।[66] द्वितीय संगीति के अवसर पर मूल संघ में विभाजन हुआ – यह निर्विवाद है, किन्तु इसका कारण वज्जिपुत्तकों का "दस वत्थूनि" प्रसंग था या महादेव का "पञ्च सिद्धान्त" इसमें परस्पर मतभेद है। दीपवंश द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि द्वितीय संगीति के निर्णय से असन्तुष्ट भिक्षुओं ने दस हजार भिक्षुओं की पृथक् संगीति की तथा अपने ग्रन्थ सुनिश्चित किए। महावंश वज्जिपुत्तक भिक्षुओं से असन्तुष्ट होकर महासंघिक सम्प्रदाय की स्थापना की सूचना देता है।[67] उक्त दोनों ग्रन्थ संघ-भेद एवं संगीति के आयोजन के कारक के रूप में वज्जिपुत्तकों की दस वत्थूनि का उल्लेख करते हैं, जबकि अन्य साक्ष्य महादेव के अर्हत-विषयक पञ्च- प्रस्तावों को इसका उत्तरदायी मानते हैं।[68]

महासंघिक

मूल संघ में द्वितीय संगीति के समय हुए विभाजन के परिणामस्वरूप महासंघिक सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।[69] द्वितीय संगीति के निर्णय से असन्तुष्ट होकर कालान्तर में पूर्वी भिक्षुओं ने महादेव की अगुवाई में उसका विरोध करते हुए पाटलिपुत्र में एकत्र होकर महासंघिक सम्प्रदाय के रूप में अपने स्वतंत्र संगठन का गठन किया।[70] अपने अभ्युदय की कुछ दशाब्दियों के भीतर ही यह पंथ शक्ति एवं लोकप्रियता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया। विनय के तत्कालीन नियमों को उन्होंने अपने अनुसार संशोधित-परिवर्द्धित किया। बहुत से ऐसे सूत्रपाठों को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया जिन पर प्रथम संगीति में सहमति दर्शाई गई थी। यही नहीं, उन्होंने सुत्तों को बुद्ध-वचन मानने पर भी विरोध व्यक्त किया।[71]

बुद्ध-निर्वाण की दूसरी शती में महासंघिक सम्प्रदाय की कई उपशाखाएं दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें गोक्कुलिक तथा एकब्बोहारिक प्रथम विभाजन के रूप में दिखाई देती हैं। गोक्कुलिक से पुनः चैत्यिक, बहुश्रुतीय और प्रज्ञप्तिवादिन की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। बहुश्रुतीय पंथ के सन्दर्भ में अनुमान किया जाता है कि बुद्ध परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती के अन्त में या तीसरी शती के प्रारम्भ में इसका उद्भव हुआ। प्रायः अनुमान किया जाता है कि इसका आरम्भ एक ऐसे आचार्य से हुआ जो बौद्ध धर्म के सूत्रों में बहुश्रुत था। ये बुद्धोपदेशों के अनित्यता, दुःख, शून्य, अनात्मन् तथा निर्वाण से सम्बद्ध होने में विश्वास करते थे।[72]

स्थविरवादिन या थेरवादी

बुद्ध-परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् द्वितीय संगीति के समय मूल संघ में हुए विभाजन के परिणामस्वरूप स्थविरवादिन या थेरवादी सम्प्रदाय को अस्तित्व प्राप्त हुआ।[73] यह सम्प्रदाय बुद्ध की मूल शिक्षाओं और उनके द्वारा निर्धारित नियमों के पालन में विश्वास करता था तथा उसमें किसी भी प्रकार की शिथिलता अथवा छूट के विरूद्ध था। यह कहना भी उचित होगा कि ये अत्यधिक परम्परावादी, रूढ़िवादी या कट्टरतावादी थे।

स्थविरवादियों से ही बुद्ध-परिनिर्वाण के 200 वर्ष बाद वात्सिपुत्रीय सबसे पहले अस्तित्व में आए तथा उनसे कुछ समय पश्चात् महीशासकों का अभ्युदय हुआ। यद्यपि महीशासकों की प्राचीनता के सन्दर्भ में बारो महोदय ने संशय व्यक्त किया है, किन्तु महीशासकों की बुद्धकालीन सम्मानित भिक्षु, पुराण से सम्बद्धता को देखते हुए इसे प्राचीन माना जा सकता है।[74]

वात्सिपुत्रीय

बुद्ध परिनिर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष अनन्तर बिन्दुसार के शासनकाल में वात्सिपुत्रीय सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।[75] इसे विभिन्न बौद्ध मतवादियों में पृथक् से पहचाना जा सकता है क्योंकि ये पुद्गल सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। इस सम्प्रदाय ने उन सारे सूत्रों का प्रणयन किया जिनमें "पुद्गल" शब्द था। इनके अनुसार बिना पुद्गल के पुनर्जन्म असम्भव है। इनके इसी दृष्टिकोण के कारण अन्य बौद्ध सम्प्रदायों ने इसकी आलोचना की। इस दृष्टि से वसुबन्धु[76] का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने इनके पुद्गलिक सिद्धान्तों का सतर्क खण्डन किया है।

कतिपय विद्वानों के अनुसार इस सम्प्रदाय का जन्म वात्सीपुत्र से हुआ जिन्होंने सारिपुत्र और राहुल से विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया था।[77] यह सम्भावना भी व्यक्त की गई है कि सम्भवतः इनकी उत्पत्ति वत्स की राजधानी कौशाम्बी के आस-पास हुई और यह भी सम्भव है कि क्षेत्र-विशेष में उद्भूत होने के कारण ही इनका नाम वात्सीपुत्रीय पड़ा हो। कालान्तर में वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, साम्मीतीय तथा सण्णागरिक, आदि अनेक उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गए।

महीशासक

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि महीशासकों का सम्बन्ध बुद्धकालीन भिक्षु पुराण से होने के कारण प्रायः इसे प्राचीन सम्प्रदाय माना जाता है।[78] परन्तु विद्वानों में इनकी उत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों में पर्याप्त मतभेद है। पालि स्रोतों के अनुसार यह उपसम्प्रदाय वज्जिपुत्तकों के साथ

स्थविरवादियों से अलग हुआ और इसी से कालान्तर में सर्वास्तिवादियों का उदय हुआ जबकि वसुमित्र के अनुसार इस पंथ का प्रादुर्भाव सर्वास्तिवादियों से हुआ था। महीशासकों की विनयानुसार अपनी अष्ट माँगों[79] को स्वीकार करवाने के उपरान्त ही पुराण ने प्रथम संगीति में सम्पादित कृत्यों एवं विषयवस्तु को अपनी सहमति दी थी। आरम्भिक महीशासक थेरवादियों के समान ही चार आर्य-सत्यों में विश्वास रखते थे किन्तु गत-आगत को विश्वास योग्य नहीं मानते थे। कतिपय विद्वानों के अनुसार आरम्भ में ये कौशाम्बी और भरुकच्छ के आसपास प्रभावशील थे, कालान्तर में ये महिषमण्डल अवन्ति होते हुए सिंहल की ओर प्रस्थान कर गए।

इसके अतिरिक्त स्थविरवादी सम्प्रदाय के हेमवतिक उपसम्प्रदाय का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इनके बारे में प्रामाणिक विवरण का प्रायः अभाव है। अतः अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

परिनिर्वाणोत्तरकालीन धर्म-संघ के इस विवेचन से बुद्ध से लेकर अशोक-पूर्व तक का युग एक विशिष्ट काल के रूप में दृष्टिगोचर होता है। बुद्ध की मान्यताओं का प्रसार हो रहा था, उनकी व्यावहारिक रूप में परिणति हो रही थी परन्तु साथ ही उनके अनुपालन में कुछ शिथिलताएँ भी आ रही थीं। जहाँ कुछ शासक सद्धर्म के विकास-विस्तार में सहायक सिद्ध हुए वहीं कतिपय शासकों की तटस्थ भूमिका भी दृष्टिगोचर होती है।[80] इस युग-विशेष में धर्म-विनय के व्यवस्थापन एवं संकलन का प्रयास होता है, संगीतियों के आयोजन में शासकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है।[81] गौतम बुद्ध के मानवीय स्वरूप को महिमा-मण्डित करने एवं देवोपम सिद्ध करने के प्रति रूझान बढ़ती है। सद्धर्म के भौगोलिक विस्तार के साथ कालान्तराल के कारण बुद्धोपदेशों के प्रति मत-मतान्तर बढ़ता है, सुविधाभोगिता की वृत्ति बनती है और एकीकरण तथा नियमन-संयमन के लिए आयोजित संगीतियों के बावजूद कई सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है और इसे भी बौद्ध धर्म के विस्तार के एक अंग के रूप में स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इन विविध सम्प्रदायों ने पुनः नई ऊर्जा के साथ समाज को अपनी ओर आकृष्ट करने का हर-सम्भव प्रयत्न किया है।

अध्ययन की इस अवधि में सद्धर्म के इस बहुविध विस्तार में समाज के विविध जाति-वर्गों का न्यूनाधिक प्रतिनिधित्व दिखाई देता है।

संदर्भ-सूची

1. उल्लेखनीय है कि तारानाथ कृत ग्रन्थ में भ्रामक एवं विरोधाभासी सूचनाओं की बहुलता है तथा अतिरंजित रूप में वर्णित शासकों से सम्बद्ध सूचनाओं का समकालीन परिवेश में अन्वेषण सम्भव नहीं है। इसके उपरान्त भी इससे बौद्ध धर्म-संघ के क्रमिक विकास की सामान्य रूपरेखादि का ज्ञान अवश्य होता है।
2. अनेक विद्वानों ने मंजूश्री मूल कल्प में संकलित सामग्री की ऐतिहासिकता पर सन्देह व्यक्त किया है। (पाण्डेय, राजबली, प्राचीन भारत, पृष्ठ 305) इस ग्रन्थ में उपलब्ध विवरण अपने वर्णित स्वरूप में अत्यन्त महिमा-मण्डित एवं भ्रामक दिखाई देते हैं परन्तु स्रोत सामग्री की अल्पता के कारण उक्त ग्रन्थ सावधानीपूर्वक यथा प्रसंग उपयोग किया गया है।
3. वि०चु०, 12.2.8.
4. - वही -।
5. द्वितीय संगीति के अल्प समय पश्चात् ही मूल संघ महासंघिक तथा स्थविरवादिन नामक दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया था।
6. वि०चु०, 12.1 और आगे (देखें - द्वितीय संगीति का सन्दर्भ)।
7. बौद्ध परम्परा बुद्ध के निर्वाणोपरान्त असंख्य स्तूपों के निर्माण का विवरण देती हैं (देखें - दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त")।
8. दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त।"
9. विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त।"
10. - वही -।
11. - वही -, जहाँ पर बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को आठ भागों में विभाजित कर उन पर स्तूप-निर्माण का उल्लेख है।
12. वि०चु०, 11.1.1 और आगे।
13. - वही - तथा दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त" (सुभद्द का प्रसंग)।
14. वि०चु०, 12.1.10 (जहाँ पर वज्जिपुत्तक भिक्षुओं द्वारा दस कल्पों की माँग की जा रही थी उसी के एक कल्प के रूप में स्वर्ण-रजत का भी उल्लेख है।)।
15. "तस्यापि सुतो राजा उकाराख्यः ....।" (विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें -

म०मू०, पृष्ठ 604.)।

16. तारानाथ का ग्रन्थ, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 8 और आगे, दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सेक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ 3, उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 197.
17. पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 184-85.
18. अ०नि० (नारद सुत्त); मललसेकर, जी०पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जि० 2, पृष्ठ 641 (मुण्ड का सन्दर्भ)।
19. दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सेक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ 3 (जहाँ पर अन्य सन्दर्भों का भी उल्लेख किया गया है)।
20. महावंश, 4.37-41.
21. वि०चु०, 12.1.9.
22. "तेनापिकारिता शास्तुः कारा सुमहती तदा, स्तूपैरलंकृता सर्वा समुद्भान्ता वसुन्धरा।" म०मू०, पृष्ठ 611, तारानाथकृत ग्रन्थ (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 31.
23. म०मू०, पृष्ठ 611-12.
24. दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त" (द्रोण का सन्दर्भ)।
25. - वही -, (सुभद्द का सन्दर्भ जहाँ उसके वक्तव्य का विवरण है जिसे प्रथम संगीति के कारण के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।)।
26. द्वितीय संगीति से सम्बद्ध विवरण तथा उपर्युक्त वर्णित भिक्षुओं की भूमिका का यथा-सन्दर्भ उल्लेख किया गया है।
27. वि०चु०, 12.2.8.
28. - वही -, 12.1.10 (जहाँ वज्जिपुत्तक भिक्षुओं की विशिष्ट माँगों सम्बन्धी **दस कल्प** का विवरण प्रस्तुत है उनमें भोजन सम्बन्धी माँगें भी सम्मिलित हैं।)।
29. दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त" (सुभद्द का सन्दर्भ)।
30. - वही -।
31. वि०चु०, 11.1.1 और आगे।
32. वि०, 11.1.11.
33. देखें - दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सेक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ 130.
34. वि०टे०, जि० 3, पृष्ठ 370, कर्न, एच०, मेनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 101 और आगे, पूसे, डिलावेली, दि बुद्धिस्ट कौन्सिल्स, पृष्ठ 2 और आगे, महावंश, भूमिका, पृष्ठ 51, पाण्डे, गोविन्दचन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 155 और आगे, बापट, पी०वी० (सं०), बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष,

पृष्ठ 32 और आगे आदि।

35. दीपवंश, 1.24, 5.4, वि०म०, 11.1.3, ओल्डेनबर्ग, हर्मन (सं०), विनयपिटक, जि० 1, पृष्ठ 137 और उसके उद्धरण, महावंश, 3.14-16, गायगर, डबल्यू० (सं०), महावंश भूमिका, पृष्ठ 53.
36. महावंश, 3.15-23.
37. वि०चु०, 11.1.1 और आगे।
38. अ०नि०, (हि०अ०, भदन्त आनन्द कौशल्यायन) जि० 1, पृष्ठ 24.
39. तुलनीय, - पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 157.
40. प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि आनन्द धर्म-संगायन के पूर्व ही अर्हत बन गए थे। (देखें - वि०चु०, 11.1.6)।
41. आनन्द के ऊपर लगाए गए पाँच आरोपों में "क्षुद्रकानुक्षुद्र" सम्बन्धी आरोप भी सम्मिलित था जिसका यथा-सन्दर्भ उल्लेख किया जाएगा।
42. दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 286.
43. वि०चु०, 11.1.9 और आगे।
44. तिब्बती दुल्व, देखें - आनन्द पर लगाए गए आरोप सम्बन्धी सन्दर्भ; तुलनीय, बापट, पी०वी० (सं०), बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष।
45. दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, पृष्ठ 287.
46. वि०चु०, 11.1.10.
47. तुलनीय, बापट, पी०वी० (सं०), बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 29.
48. वि०चु०, 11.1.10.
49. महावंश के अनुसार संगीति के अवसर पर पाँच सौ भिक्षुओं के अतिरिक्त किसी भी अन्य भिक्षु का संगीति में भाग लेना तो दूर, राजगृह में रहना भी प्रतिबन्धित था। (देखें - महावंश, 3.12)।
50. वि०चु०, 11.1.11.
51. द्वितीय बौद्ध संगीति का पालि, सिंहली, तिब्बती, चीनी, संस्कृत आदि बौद्ध परम्पराओं में विवरण प्राप्त होता है।
52. वासिलीफ, डबल्यू०, डेट बुद्धिज़्म; मीनियेफ, आई०पी०, बुद्धिज़्म; बील, एस०, विनय ऑव दी धर्म गुप्ताज़; गायगर, डबल्यू०, महावंश की भूमिका; पूसे, डी ला वेली,, दी बुद्धिस्ट कौन्सिल्स, पृष्ठ 30 और आगे; कर्न, एच०, मेनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 103 और आगे; बार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 208 और आगे; पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का

इतिहास, पृष्ठ 170-73 आदि।

53. वि०चु०, 12.1.10, विस्तृत सन्दर्भों के लिए देखें - बापट, पी०वी०, बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 30 और आगे; पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 171.
54. वि०चु०, 12.1 और आगे (द्वितीय संगीति का विवरण)।
55. महावंश, 4.40-41 (उल्लेखनीय है कि वज्जिपुत्तक प्राचीनक (पूर्वी) तथा शेष पाठेय्यक (पश्चिमी) भिक्षु कहलाते थे)।
56. वि०चु०, 12.2.8 (उद्वाहिका परिषद का सन्दर्भ)।
57. महावंश, 5.1-4.
58. पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 174.
59. वार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 242.
60. दी०नि०, "महापरिनिब्बान सुत्त।"
61. सं०नि०, 48.24 (चङ्कम सुत्त); वि०म०, 9.15.9.
62. वि०म०, 1.25.24.
63. युवान च्वाँग के सन्दर्भ के लिए देखें - दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सैक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ 47.
64. दत्त, नलिनाक्ष, - वही -, पृष्ठ 130.
65. मीनियेफ, जे०पी०, रिसर्चेज़ सुर ले बुद्धिज़्म, पृष्ठ 40; विस्तृत सन्दर्भ के लिए देखें - पूसे, डी ला वेली,, दी बुद्धिस्ट कौन्सिल्स, पृष्ठ 62-63.
66. महावंश, 5.1-4.
67. दीपवंश, 4 एवं 5, पृष्ठ 32-38.
68. पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ 174.
69. महावंश, 5.1-4.
70. पाण्डे, गोविन्द चन्द, पूर्वोक्त, पृष्ठ 174.
71. विस्तृत विवरण के लिए देखें - बापट, पी०वी०, बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृष्ठ 97 और आगे।
72. विस्तृत विवरण के लिए देखें - बापट, पी०वी०, बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष; बौद्ध धर्म की प्रधान शाखाएं और सम्प्रदाय सम्बन्धी अध्याय, पाण्डे, गोविन्द चन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास तथा दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सेक्ट्स इन इण्डिया।
73. महावंश, 5.1-4.
74. दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सेक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ 130.

75. वार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्छ 240-41.
76. देखें, वसुबन्ध का "अभिधम्म कोश" जिसमें उन्होंने विशेष रूप से अन्तिम अध्याय में वात्सीपुत्रियों की कड़ी आलोचना की है।
77. वार्डर, ए०के०, इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ 240 जहाँ पर लामोते महोदय का मत भी प्रस्तुत किया गया है।
78. दत्त, नलिनाक्ष, बुद्धिस्ट सैक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ 130.
79. अष्ट माँगें – अन्दर भोजन पकाना, इच्छानुसार पकाना, इच्छानुसार खाना, प्रातःकाल उठने पर भिक्षान्न स्वीकार करना, भिक्षा प्रदान करने वाले की स्वेच्छा से भिक्षान्न घर ले जाना, भिन्न-भिन्न प्रकार के फलों का संग्रह करना एवं तालाब में उत्पन्न वस्तुओं को भी खाना।
80. चन्द्रगुप्त, बिम्बिसार आदि शासकों का दृष्टिकोण न तो सद्धर्म के विरोध में था और न ही उसके अनुकूल ही था। अतः उनकी इस प्रकार की भूमिका को देखते हुए इन्हें तटस्थ शासकों की श्रेणी में रखा जा सकता है।
81. इस दृष्टि से कालाशोक, अजातशत्रु उपादेय प्रतीत होते हैं।

अध्याय अष्टम

उपसंहार

प्राचीन भारतीय इतिहास के सामान्य अध्ययन से ई०पू० छठी शताब्दी का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आदि, विशिष्ट दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान लक्षित होता है। इस संक्रमणशील परिवेश में प्रभाव-प्राप्त श्रमण, विशेषकर बौद्ध, परम्परा का प्राधान्य दिखाई देता है; जिसने ब्राह्मणवादी रूढ़ियों का विरोध कर कर्मवादी समाज की संरचना का पथ प्रशस्त किया। सद्धर्म की चिन्तनशील वृत्तियों ने न केवल तद्‌युगीन वैचारिक परिवेश को समृद्ध किया अपितु समाज को भी अपनी ओर आकृष्ट किया।

प्रारम्भिक पालि साहित्य के आधार पर पिछले अध्यायों में किए गए अध्ययन से सुस्पष्ट है कि बौद्ध धर्म समय एवं समाज की माँग था। इस सद्धर्म के प्रतिष्ठाता सिद्धार्थ गृहस्थ जीवन से प्रव्रजित हो स्वयं के सतत उद्योग से न केवल सम्यक् संबुद्ध बन जाते हैं; वरन् स्वतः स्फूर्त करुणा-प्रसूत वेदना से मानव समाज को भव-बाधा से निस्तारण के लिए मध्यममार्गी उपदेश का संकल्प लेते हैं और उसको मूर्त रूप प्रदान करने के लिए जाति-वर्गविहीन भिक्षु-संघ की स्थापना करते हैं। किञ्चित् बाद में भिक्षुणी के रूप में स्त्रियों को भी संघ प्रवेश की अनुमति मिलती है और भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका के रूप में बौद्ध चतुष्परिषद का गठन होता है; जिसमें विभिन्न सामाजिक वर्गों से सम्बद्ध हजारों की संख्या में लोगों का प्रवेश होता है। सद्धर्म के प्रभाव, बहुआयामी विकास-विस्तार और उसमें समाज के विभिन्न वर्गों की योगदानपरक भूमिका की दृष्टि से बुद्ध से लेकर अशोक पूर्व तक का काल एक पृथक् कल्प के रूप में दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध धर्म-संघ के विकास में विभिन्न वर्गों की भूमिका अत्यन्त जिज्ञासावर्द्धक लगती है और यह जिज्ञासा तब और भी बढ़ जाती है, जबकि प्रारम्भिक

पालि साहित्य में इस प्रकार के सन्दर्भों की बहुलता दिखाई देती है। धर्मपरक ग्रन्थ होने के कारण यद्यपि ये कहीं-कहीं आग्रही भी लगते हैं, सामान्य रूप से धर्म-प्रधान ग्रन्थों की भाँति इनमें भी अतिशयोक्ति, पिष्ठ-प्रेषण, क्षिप्तांश-प्रक्षिप्तांश का पुट भी दिखाई देता है, किन्तु ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव भी नहीं है। पालि साहित्य के आधार पर पूर्व में भी धर्म एवं संघ के विकास से सम्बद्ध अनेक कार्य प्रकाश में आए हैं, परन्तु इनमें से कुछ ही अध्ययनों में ही समाज की भूमिका का उल्लेख है, वह भी आनुषंगिक जिनका यथा-प्रसंग विवेचन भी किया गया है। अतः यहाँ प्रस्तुत अध्ययन में पूर्व अध्ययनों से अलग हटकर धर्म-संघ के विकास-विस्तार तथा उससे सम्बद्ध सांख्यिक-आर्थिक समृद्धि, भौगोलिक विस्तार, आदि प्रत्येक कार्य-व्यापार में विभिन्न वर्गों की स्वतंत्र भूमिका की व्यापक विवेचना की गई है।

बौद्ध धर्म एवं संघ के प्रारम्भिक विकास में विविध वर्गों का योगदान विषयक अध्ययन के आधार पर सामान्य रूप से तो यह लगता है कि सद्धर्म का उद्‌भव आकस्मिक था, परन्तु उसके पूर्वापर पक्षों के अध्ययन से विदित होता है, कि उसका उद्‌भव ब्राह्मण परम्परा में व्याप्त हो रही कुरीतियों के निवारण के लिए हुआ था। सम्भवतः इससे सम्बद्ध विभिन्न तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए स्वयं बुद्ध ने समकालीन वेदाधारित कर्म-काण्डों का विरोध कर कर्मप्रवण सामाजिक संरचना का सूत्रपात किया। यद्यपि यह अत्यन्त रोचक है कि जिस ब्राह्मण-प्रधान समाज की कुरीतियों एवं जातिगत मान्यताओं का गौतम बुद्ध ने सतर्क खण्डन किया, उसी सद्धर्म के बहुविध विकास-विस्तार में ब्राह्मणों का प्राधान्य लक्षित होता है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि सद्धर्म के प्रथम दीक्षाधारी भिक्षुओं के रूप में पञ्चवर्गीय ब्राह्मणों का विवरण मिलता है। गौतम बुद्ध के अन्तिम संस्कार के अवसर पर ब्राह्मण महाकश्यप की प्रतीक्षा की जाती है और अन्तिम संस्कारोपरान्त अस्थि-वितरण जैसे महत्त्वपूर्ण कृत्य में द्रोण नामक ब्राह्मण की प्रधान भूमिका दिखाई देती है। अतः उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह सामान्य अभिमत कि बौद्ध धर्म क्षत्रिय तथा वैश्य-गृहपति वर्ग द्वारा पोषित ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन था, सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता है।

गौतम बुद्ध के सर्वातिशायी व्यक्तित्व, हजारों की संख्या में दीक्षित होने वाले भिक्षुओं द्वारा उनका अनुकरण और सामान्य जन की भाषा में दिए जाने वाले उपदेशों के फलस्वरूप अनतिचिर स्वयं उनके काल में ही सद्धर्म का प्रचार-प्रसार न केवल मज्झिमा जनपद, बल्कि अवन्ति जैसे प्रत्यन्त जनपदों तथा सौवीर, तक्षशिला, सूनापरान्त एवं बाहिय जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्रों में होता है। धर्म-संघ के सीमा विस्तार से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लोग संघ के सदस्य बनते हैं; धर्म-संघ की बहुविधि वृद्धि-समृद्धि, आर्थिक-सांख्यिक, वैचारिक-सैद्धान्तिक नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन, में सहयोग करते हैं।

सद्धर्म के विकास में विभिन्न वर्गों के योगदान, सांख्यिक परिगणन एवं स्वरूप विश्लेषण से स्पष्ट है, कि विकास-विस्तार से जुड़े विभिन्न घटकों में समाज के सभी वर्गों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की सहभागिता थी। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि हमने उपर्युक्त जाति-वर्गों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विशिष्ट सहायक पदों, ब्राह्मण, क्षत्रिय-प्रशासक, वैश्य-गृहपति तथा निम्न-अन्य वर्ग के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से धर्म-संघ के भौगोलिक विस्तार में जहाँ समस्त वर्गों की न्यूनाधिक भूमिका दिखाई देती है, वहीं सैद्धान्तिक एवं वैचारिक समृद्धि में ब्राह्मण वर्ग का वर्चस्व दिखाई देता है। यह इसलिए भी स्वाभाविक लगता है कि समकालीन परिवेश में चिन्तन-मनन एवं वैचारिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन में इनकी विशिष्ट भूमिका थी तथा अपने धार्मिक क्रियाकलापों के कारण ये अन्य वर्ग के लिए स्तुत्य एवं प्रेरक के रूप में प्रतिष्ठित थे। पालि साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रकाण्ड विद्वान ब्राह्मणों, महाकात्यायन, महाकाश्यप, सारिपुत्र, का उल्लेख भी मिलता है। इसी प्रकार नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन तथा आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से क्षत्रिय-प्रशासक विशेषकर वैश्य-गृहपतिवर्ग का प्राधान्य था और तद्युगीन समाज में उनके समृद्धशाली वर्ग होने के कारण सहज सम्भाव्य है। प्रारम्भिक पालि साहित्य में अनेक नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन तथा नवीन नियमों की स्थापना में विशिष्ट भूमिका दिखाई देती है। अल्प ही सही निम्न-अन्य वर्ग का, भी संघ के बहुमुखी विस्तार तथा नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

स्थान लगता है। हाँ, यह अवश्य है कि बौद्ध धर्म में प्रायः उन्हीं लोगों का स्मरण किया गया है, जिनका सद्धर्म के विकास-विस्तार, विशेष रूप से आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान था। अतः इसके बावजूद धर्म-संघ के बहुमुखी विस्तार में जितनी भी मात्रा में इनका उल्लेख मिलता है, वह अपने-आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगता है।

बौद्ध धर्म-संघ के सामान्य अध्ययन से उसके बहुविध विकास-विस्तार में समस्त वर्गों का योगदान तो था ही, परन्तु इन सभी वर्गों में से कुछ व्यक्ति अपने बहुविध योगदान के लिए प्रारम्भिक पालि साहित्य में बहुधा स्मरण किए गए हैं। समस्त वर्गों के भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपसिकाओं की वैयक्तिक भूमिका उभरकर सामने आती है, जिससे उनके परिचयात्मक अध्ययन की ओर रूझान बढ़ती है। स्वयं बुद्ध, संघ के ऐसे विशिष्ट सदस्यों की न केवल बहुशः प्रशंसा करते हैं, वरन् सद्धर्म के प्रति उनके योगदानपरक महत्त्व को देखते हुए उन्हें गुणमूलक उपाधियों से सुशोभित करते हैं। अङ्गुत्तर निकाय की वरेण्य भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं की सूची में ऐसे विशिष्ट सदस्यों का उल्लेख मिलता है; जिससे स्पष्ट है कि संघ के बहुविध विस्तार में इन प्रभावशाली व्यक्तियों के रूप में भी सभी जाति वर्गों का अपना प्रतिनिधित्व था। बौद्ध धर्म-संघ की वैचारिक-सैद्धान्तिक समृद्धि जहाँ चार आर्य-सत्यों का सुफल थी, वहीं धर्म-संघ के आचार-विचार विषयक नियम चतुर्निश्रय का बहुधा विस्तार दिखाई देते है। समय-समय पर भिक्षुओं के जीवन के नियमन-संयमन के लिए अनेक संघीय कृत्यों – उपोसथ, प्रातिमोक्ष, पवारणा, का विधान निर्मित होता है। प्रारम्भिक पालि साहित्य के अनुशीलन से विदित है कि बौद्ध धर्म के प्रमुख वैचारिक सिद्धान्त के रूप में चार आर्य-सत्यों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसके साथ ही इन्हीं में समय-समय पर हुए विकास के परिणामस्वरूप 37 बोधिपक्षीय धर्म अस्तित्व में आते हैं। इसी प्रकार आरम्भ में भिक्षुओं के लिए चतुर्निश्रय, पिण्डपात, भिक्षान्न, पांसुकूलिक चीवर, वृक्षमूलिक आवास, गौमूत्र-भैषज्य, का विधान मिलता है। किन्तु असुविधादि को देखते हुए प्रत्येक निश्रय में समय-समय पर अतिरेक लाभों की छूट मिलती है। सद्धर्म के बढ़ते सामाजिक सम्पर्कों तथा परिस्थितिजन्य कठिनाइयों के

फलस्वरूप नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन के व्यापक दौर का सूत्रपात होता है। संशोधन-परिवर्द्धन की इस प्रक्रिया में जहाँ एक ओर सामाजिक प्रभाव लक्षित होता है, वहीं दूसरी ओर कतिपय प्रभावशाली भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं की भूमिका भी दिखाई देती है। विभिन्न सामाजिक वर्गों से सम्बद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के साथ ही जन-सामान्य के प्रभाव में भी संघीय नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन होता है और इस प्रकार के संशोधन-परिवर्द्धन के कई स्वाभाविक कारण भी दिखाई देते हैं, यथा – जहाँ बौद्ध धर्म आचार की दृष्टि से निवृत्तिमार्गी और सिद्धान्त की दृष्टि से मध्यममार्गी धर्म के रूप में उभरकर आता है; वहीं विकास के क्रम में उसके निवृत्तिमार्गी आचार पर मध्यममार्गी – दो अतियों अर्थात् अतिशय भोगवृत्ति और अतिशय काया-क्लेश प्रधान तप से विरत हो बीच के मार्ग पर चलने के, सिद्धान्त का प्रभाव-सा पड़ता दिखाई देता है और निश्चय ही इसने नियमों के संशोधन-परिवर्द्धन को अधिक गति दी। प्रसंगवश यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध का लक्ष्य तो बहुजन कल्याण और जन-जागृति था, अतः बुद्ध ने अपने अनुयायियों को वह सब कुछ स्वीकार करने का निर्देश दिया, जो किसी व्यक्ति के द्वारा अपने कल्याण के निमित्त प्रदान किया जाय। इसी प्रकार रुग्ण या आकस्मिक कठिनाइयों अथवा भिक्षुओं की असुविधा के निवारण के लिए भी अनेक नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन हुआ। यद्यपि वे सारे आवसरिक और विशेष परिस्थितियों के लिए ही निर्मित थे, परन्तु सुविधाभोगी भिक्षुओं द्वारा उनके दुरुपयोग का सन्दर्भ ज्ञात होता है और कहीं-कहीं बौद्ध भिक्षुओं का जीवन गृहस्थ-सा हो गया दिखता है तथा मानवीय कमजोरियों के कारण यह उचित भी लगता है। किन्तु इसे संघीय जीवन में शिथिलाचार को बढ़ावा देने का उत्तरदायी अवश्य माना जा सकता है, जिससे संघ का प्रारम्भिक आदर्श "एको चरो खग्ग विषाण कप्पो" की भावना न केवल खण्डित होने लगी, बल्कि "सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानां तपोसुखं" को भी बढ़ावा मिला। यद्यपि यहाँ यह ध्यातव्य है कि संशोधित नियम पूर्व नियम का स्थानापन्न नहीं हो गया बल्कि उसका भी स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। जहाँ कुछ लोग सुविधाजानित संशोधित नियमों के प्रति अभिलषित दिखाई देते हैं, वहीं कतिपय पूर्व के नियमों के

प्रति भी आग्रही लगते हैं। इस प्रकार बुद्ध के जीवनकाल में ही संघ के सदस्यों की जीवन-पद्धति में भेद दिखाई देने लगता है। बुद्ध के जीवनकाल में ही उनके महिमा-मण्डित व्यक्तित्व, सफल नियामक एवं समादरणीय होने के कारण सदस्यों में मतभेद होते हुए भी वह बहुत प्रभावी नहीं दिखाई देता। लेकिन बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर बुद्धोपदेशों की अपने-अपने पूर्वाग्रहों एवं सुविधा के अनुरूप व्याख्या करने की प्रवृत्ति बंढ़ती है। परिनिर्वाणोत्तरकालीन धर्म-संघ के विवेचन से बुद्ध परिनिर्वाणोत्तर और अशोक-पूर्व तक की यह अवधि संक्रमणशील काल के रूप में उभरकर सामने आती है। बुद्ध की मान्यताओं का प्रसार हो रहा था, उनकी व्यवहारिक रूप में परिणति हो रही थी, परन्तु उनके अनुपालन में कुछ शिथिलताएँ भी आ रही थीं। जहाँ कुछ शासक इस युग-विशेष में सद्धर्म के विकास-विस्तार में सहायक सिद्ध हुए, वहीं कतिपय शासकों की तटस्थ भूमिका भी दिखाई देती है। परिनिर्वाण के तत्काल बाद बुद्धोपदिष्ट मान्यताओं की व्याख्या कर तदनुरूप आचरण में प्रथम संगीति का आयोजन और उसके निवारण के लिए बुद्धोपदेशों को व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है, जिसकी अभिपूर्ति के लिए प्रथम संगीति का आयोजन होता है। बुद्धोपदेशों के संग्रहीकरण का प्रयास किया जाता है। इससे कुछ समय के लिए स्वेच्छाचारिता को अवश्य अंकुश लगता है, परन्तु वह चिरस्थायी नहीं हो पाता है। नियमों की पुनः सुविधानुरूप व्याख्या की जाने लगती है, जिससे उचित और अनुचित के मध्य विभेद कर पाना असम्भव लगता है, स्थानीय भेद उभरकर आता है, जिसके निवारण के लिए द्वितीय संगीति का आयोजन होता है, परन्तु इससे भी मतभेदों का निदान नहीं होता है, बल्कि भिक्षुओं के अनेक वर्ग बन जाते हैं। मत-मतान्तर के कारण सम्प्रदाय-भेद को अस्तित्व मिलता है तथा अनेक सद्गुणों के बावजूद अशोक के पूर्व ही संघ अनेक सम्प्रदायोपसम्प्रदायों – थेरवादी, महासंघिक, महीशासक, वज्जिपुत्तक, में विभक्त हो जाता है। गौतम बुद्ध के मानवीय स्वरूप को महिमा-मण्डित करने एवं देवोपम सिद्ध करने के प्रति रूझान बढ़ती है। स्तूप निर्माण के रूप में बौद्ध स्थापत्य का प्रादुर्भाव होता है और पुनः ब्राह्मण परम्परा की रूढ़ियों का विरोध करने वाले सद्धर्म में उन्हीं रूढ़ियों – बुद्ध

की पूजा-अर्चना, कर्म-काण्ड को बढ़ावा मिलने लगता है। किन्तु इसे भी बौद्ध धर्म-संघ के विस्तार के एक अङ्ग के रूप में स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इन सभी वृत्तियों ने पुनः नई ऊर्जा के साथ समाज को अपनी ओर आकृष्ट करने का हर सम्भव प्रयत्न किया तथा इस प्रकार के बहुविध विकास-विस्तार में समाज के विविध जाति-वर्गों का न्यूनाधिक प्रतिनिधित्व दिखाई देता है।

अतः बुद्ध से लेकर अशोक पूर्व तक का युग, बौद्ध धर्म-संघ की स्थापना, उसके बहुविध विकास-विस्तार तथा समाज के विभिन्न वर्गों की सर्वक्षेत्रीय वृद्धि-समृद्धि तथा नियमों में संशोधन-परिवर्द्धन में विशिष्ट भूमिका तथा बुद्ध के अनुयायियों, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं के आचार-विचार में आ रही शिथिलता और विकृति की चिन्ता, उसे दूर करने के उपाय, संगीतियों के आयोजन, सैद्धन्तिक विभेद और तद्जनित सम्प्रदाय-भेद के इतिहास के रूप में उभरकर सामने आता है। इस प्रकार के विविध परिवर्तनों की दृष्टि से बुद्ध से लेकर अशोक-पूर्व तक का युग अध्ययन की विशिष्ट इकाई के रूप में परिलक्षित होता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में इस विवेच्यावधि में हुई सर्वक्षेत्रीय वृद्धि-समृद्धि तथा परिवर्तन-परिवर्द्धन और उसमें समाज के विविध वर्गों की भूमिका को विश्लेषित करने का यथेष्ट प्रयास किया गया है।

इस प्रकार के अध्ययन की आगे भी सम्भावना है, वैसे भी यह अध्ययन समय की दृष्टि से अशोक-पूर्व तक के ही धर्म-संघ के बहुविधि विकास और उसमें समाज के विविध वर्गों के योगदान की समीक्षा प्रस्तुत करना है तथा इसी प्रकार का अध्ययन अशोक और अशोकोत्तर काल में बौद्ध धर्म-संघ के बहुविध विकास ओर उसमें समाज के विविध वर्गों के योगदान को लेकर प्रस्तुत किया जा सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

मूल-स्रोत

(अ) त्रिपिटक (पालि)

विनय पिटक : सम्पादित - एच० ओल्डेनबर्ग, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1879-83; नालन्दा देवनागरी संस्करण, सम्पादित, भिक्षु जगदीश काश्यप, चुल्लवग्ग, पाचित्तिय, पाराजिक, महावग्ग चार जिल्दों में, 1956-58; अंग्रेजी अनुवाद, विनय टेक्स्ट, तीन जिल्दों में, टी० डबल्यू० रीस डेविड्स और एच० ओल्डेनबर्ग, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 13, 17, 20; भारतीय संस्करण, दिल्ली, 1965. उल्लेखनीय है कि इन अनूदित जिल्दों की पाद टिप्पणियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इसे ध्यान में रखते देवनागरी संस्करण के अध्ययन के बावजूद, सुविधा की दृष्टि से पाद टिप्पणियों में 'विनय टेक्स्ट' के ही सन्दर्भ प्रस्तुत हैं। जहाँ देवनागरी संस्करण या अन्य अनुवादों का प्रयोग है, वहाँ उनका स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। अंग्रेजी अनुवाद, कुमारी आई० बी० हार्नर, दी बुक ऑव दी डिसिप्लिन, सेक्रेड बुक्स ऑव दी बुद्धिस्ट्स, पाँच जिल्दों में 10, 11, 13, 19 और 20; हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, 1935.

सुत्तपिटक

अङ्गुत्तर निकाय : सम्पादक, रिचर्ड मोरिस और एडमण्ड हार्डी (पाँच जिल्दों में सम्पन्न) पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1885-1900; नालन्दा देवनागरी संस्करण, सम्पादक, भिक्षु जगदीश काश्यप, 1958; अंग्रेजी अनुवाद (दी बुक ऑव दी ग्रेजुअल सेइंग्स) एफ० एल० वुडवर्ड और इ० एम० हेयर, पाँच जिल्दों में सम्पन्न, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1932-36; हिन्दी अनुवाद, चार जिल्दों में, कौसल्यायन, भदन्त आनन्द।

खुद्दक निकाय

उदान : सम्पादक, पी०, स्टाइनथल, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन 1885; नालन्दा, देवनागरी संस्करण, 1959; अंग्रेजी अनुवाद, डी० एम० स्ट्रांग, लन्दन, 1902.

थेरगाथा : सम्पादक, एच० ओल्डेनबर्ग, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1883; नालन्दा, देवनागरी संस्करण, 1959; अंग्रेजी अनुवाद, श्रीमती रीस डेविड्स, साम्स ऑव अर्ली बुद्धिस्ट्स, जिल्द 2, ब्रेद्रेन, लन्दन, 1964.

थेरीगाथा : सम्पादक; आर० पिशेल, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1883; नालन्दा, देवनागरी संस्करण, 1959; अंग्रेजी अनुवाद, श्रीमती रीस डेविड्स, साम्स ऑव अर्ली बुद्धिस्ट्स, जिल्द 1 सिस्टर्स, लन्दन 1964.

धम्मपद : सम्पादक एस० एस० थेर, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1914; नालन्दा, देवनागरी संस्करण; अंग्रेजी अनुवाद, एफ० मैक्समूलर, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 10 (भारतीय संस्करण), दिल्ली, 1965; अंग्रेजी अनुवाद, राधाकृष्णन्, मद्रास, 1974.

सुत्तनिपात : सम्पादक, डी० एण्डरसन और एस० स्मिथ, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1913; नालन्दा, देवनागरी संस्करण, 1958; अंग्रेजी अनुवाद, वी० फाउसबाल, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 10, भारतीय संस्करण, 1965; इ० एम० हेयर, सेक्रेड बुक्स ऑव दी बुद्धिस्ट्स, जिल्द 15, लन्दन, 1945.

दीघनिकाय : सम्पादक, टी० डबल्यू० रीस डेविड्स और जे० इ० कारपेन्टर, तीन जिल्दों में, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1890-1911; नालन्दा, देवनागरी संस्करण, तीन जिल्दों में, 1958; अंग्रेजी अनुवाद, रीस डेविड्स, डायलाग्स ऑव दी बुद्ध, तीन जिल्दों में, सेक्रेड बुक्स ऑव दी बुद्धिस्ट्स, लन्दन, 1899-1926; हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि, सारनाथ, 1936.

मज्झिमनिकाय : सम्पादक, बी० ट्रैन्कनर और आर० चामर्स, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1888-1902; नालन्दा, देवनागरी संस्करण, तीन जिल्दों में; अंग्रेजी अनुवाद, आई० बी० हार्नर, दी कलेक्शन ऑव दी मिडिल लेंग्थ

सेइंग्स, तीन जिल्दों में, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1954- 59; हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, 1964.

संयुत्त निकाय : सम्पादक, लियोन फ्रियर और श्रीमती रीस डेविड्स, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1884-1904; नालन्दा, देवनागरी संस्करण; अंग्रेजी अनुवाद, श्रीमती रीस डेविड्स और एफ०एल० वुडवर्ड, दी बुक ऑव दी काइण्ड्रेड सेइंग्स, पांच जिल्दों में, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1917-30; हिन्दी अनुवाद, भिक्षु जगदीश काश्यप, दो जिल्दों में महाबोधि, सारनाथ, 1954.

पिटकेतर साहित्य

आर्य मंजूश्री मूलकल्प : सम्पादक, गणपति शास्त्री, (तृतीय जिल्द), त्रिवेन्द्रम, 1925.

तारानाथ का ग्रन्थ : अंग्रेजी अनुवाद, हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म इन इण्डिया, सेन्ट पीटर्सबर्ग, 1887; हिन्दी अनुवाद, रिगजिन लुण्डुपलामा। ग्रन्थ की पाद टिप्पणियों में हिन्दी अनुवाद के सन्दर्भ का ही उल्लेख है।

दीपवंश : सम्पादक, ओल्डेनबर्ग, लन्दन, 1879.

महावंश : सम्पादक, डबल्यू० गायगर, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, 1908; अंग्रेजी अनुवाद, डब्ल्यू० गायगर तथा एम० एम० बोस, लन्दन, 1912.

समन्त पासादिका : विनयपिटक की टीका, बुद्धघोष, जे० तकाकुसु और एस० नागी द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, सात जिल्दों में, 1924-27.

धम्मपद अट्ठकथा : बुद्धघोष, सम्पादित, एच० सी० नार्मन और एल० एस० तैलंग, पांच जिल्दों में, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1906-15; अंग्रेजी अनुवाद, बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, ई० डबल्यू० बर्लिङ्गेम, केम्ब्रिज, 1921.

महाव्युत्पत्ति : सम्पादक, बेगिहारा.

(ब) जैन साहित्य

आयाराङ्गसुत्त : अनुवादक, जैकोबी, एच०, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 22, 1884.

उत्तराध्ययन : व्याख्या, नेमिचन्द्र, बम्बई, 1937 और शान्तिसूरि, बम्बई, 1916; सम्पादक, शारपेन्टियर, जे०, अनुवादक, जैकोबी, एच०, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 45, 1895.

उवासग दसाओ : व्याख्या, अभयदेव; सम्पादक, वैद्य, पी० एल०, पूना, 1930; अनुवादक, हार्नले, कलकत्ता, 1888

कल्पसूत्र : अनुवादक, जैकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 22, 1884.

थाणाङ्ग : व्याख्या, अभयदेव, तीन जिल्दों में, आगमोदय समिति, बी० एस०, 1975.

भगवती सूत्र, : व्याख्या, अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई,

सूत्रकृताङ्ग : 1921; व्याख्या, शीलाङ्क, आगमोदय समिति, बम्बई, 1917; अनुवादक, जैकोबी, एच०, सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट, जिल्द 45, 1895.

(स) ब्राह्मण साहित्य

अथर्ववेद संहिता : स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, 1938

अर्थशास्त्र (कौटिलीय) : मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद और एक अध्ययन, तीन भागों में, आर०पी० कांग्ले, बम्बई 1960-65; मूल और हिन्दी अनुवाद, उदयवीर शास्त्री, लाहौर, 1925.

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : सम्पादक, ब्यूलर, द्वितीय संस्करण।

ऐतरेय आरण्यक : आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, 1943.

ऐतरेय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज।

ऋग्वेद संहिता : सायण व्याख्या के साथ, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।

छान्दोग्य उपनिषद : अष्टविंशत्युपनिषदः, सम्पादक, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पन्सिकर, सप्तम संस्करण, बम्बई, 1930.

ताण्ड्य महाब्राह्मण : चौखम्बा प्रकाशन।

तैत्तिरीय आरण्यक : आनन्दाश्रम प्रकाशन।

तैत्तिरीय उपनिषद : अष्टाविंशत्युपनिषदः, सम्पादक, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पन्सिकर, सप्तम संस्करण, बम्बई, 1930.

पञ्चविंश ब्राह्मण : सम्पादक, वेदान्त बागीस, कलकत्ता, 1869-1874.

पाणिनि की अष्टाध्यायी : दो जिल्दों में, अंग्रेजी में सम्पादित एवं अनूदित, श्रीस चन्द्र बसु, पुनर्मुद्रित, मोतीलाल बनारसीदास, 1962.

पातञ्जल महाभाष्य : हरयाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, 1963.

ब्रह्मसूत्र : शंकर व्याख्या के साथ, निर्णयसागर प्रकाशन।

वृहदारण्यक उपनिषद् : अष्टविंशत्युपनिषदः, सम्पादक, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पन्सिकर, सप्तम संस्करण, बम्बई, 1930.

बौधायन धर्मसूत्र : सम्पादक, श्रीनिवासाचार्य, एल०, मैसूर, 1907.

मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट, टीका सहित, वाराणसी, 1970; काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, 114.

महाभारत : गीताप्रेस, गोरखपुर।

शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रन्थमाला।

आधुनिक ग्रन्थ

अग्रवाल, वी० एस० : इण्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 1953.

अम्बेडकर, बी० आर० : दी बुद्ध एण्ड हिज़ धम्म, द्वितीय संस्करण, भारती बौद्ध शिक्षा संस्थान, श्रावस्ती, 1970.

आयङ्गार, पी०टी० श्री निवास : लाइफ इन ऐंश्येन्ट इण्डिया इन दी एज ऑव मंत्राज़, नई दिल्ली, 1982.

इलियट सर चार्ल्स : हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म, जिल्द 1, लन्दन, 1962.

उपाध्याय, भरतसिंह : पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग, संवत् 2008; बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, संवत् 2018.

उपासक, चन्द्रिका सिंह : डिक्शनरी ऑव अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स, वाराणसी, 1975.

ओल्डेनबर्ग, हर्मन : बुद्ध - हिज़ लाइफ, हिज़ डाक्ट्रिन, एण्ड आर्डर, (मूल जर्मन भाषा से अनूदित), लन्दन, 1882.

कनिंघम, ए० : ऐंश्येण्ट ज्याग्रफी ऑव इण्डिया, लन्दन, 1871; पुनर्मुद्रित, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1963.

कर्न, एच० : मेनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, वाराणसी, 1968.

कान्जे, एडवर्ड : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म, बम्बई, 1960; थर्टी इयर्स ऑव बुद्धिस्ट स्टडीज़, सेलेक्टेड एसेज़, ब्रूनो केस्सिरेर लिमिटेड, 1967; बुद्धिज़्म - इट्स इसेन्स एण्ड डेवलपमेण्ट, आक्सफोर्ड, 1960.

कालूफना, डेविड, जे० : हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म, न्यूयार्क, 1943. बुद्धिस्ट फिलासफी, ए हिस्टारिकल एनालिसिस, हवाई, 1976.

कुमारस्वामी, ए० के० : बुद्ध एण्ड द गॉस्पेल ऑफ बुद्धिज़्म, न्यूयार्क, 1916.

कोसम्बी, दामोदर : दी कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑव ऐंश्येण्ट
धर्मानन्द : इण्डिया, इन हिस्टारिकल आउटलाइन, भारतीय संस्करण, दिल्ली, 1975; ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956.

कोसम्बी, धर्मानन्द : भगवान बुद्ध (मूल मराठी ग्रन्थ से से हिन्दी में अनुवाद), दिल्ली, 1956.

गोंडा, जे० : ऐंश्येन्ट इण्डियन किंगशिप फ्राम द रिलीजियस प्वाइन्ट ऑफ व्यू, 1966.

गोयल, एस० आर० : ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, कुसुमात्र्जलि प्रकाशन, मेरठ, 1987.

धुर्ये, जी० एस० : इण्डियन साधुज़, द्वितीय संस्करण, बम्बई, 1964.

चक्रवर्ती, उमा : सोशियल डाइमेंशन ऑव अर्ली बुद्धिज्म, नई दिल्ली, 1987.

चक्रवर्ती, चन्दा : सेक्स लाइफ इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1963.

चक्रवर्ती, हरिपद : एसेटिसीज़्म इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1973.

चन्दा, रामप्रसाद : इण्डो-आर्यन रेसेज़, ए स्टीडी ऑफ ओरिजन ऑफ इण्डो आर्यन पीपुल्स एण्ड इस्टीट्यूशन्स, कलकत्ता, 1916.

चाइल्डर्स, राबर्ट सी० : दी होल ड्यूटी ऑव दी बुद्धिस्ट लेमैन : ए सर्मन ऑव बुद्ध, मैक्समूलर आदि, स्टडीज़ इन बुद्धिज़्म, कलकत्ता, 1953.

चानना, डी० एन० : स्लेवरी इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1960.

चौधरी, राधाकृष्ण : व्रात्याज़ इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1964.

चौधरी, विनयेन्द्रनाथ : बुद्धिस्ट सेन्टर्स इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1969.

जयतिलक, के० एन० : अर्ली बुद्धिस्ट थ्योरी ऑफ नॉलेज, लन्दन, 1963.

जान्स्टन, ई० एच० : अर्ली सांख्य, लन्दन, 1937.

जायसवाल, के० पी० : हिन्दू पालिटी, बंगलौर, 1967.

जोशी, लालमणि : स्टडीज़ इन दी बुद्धिस्टिक कल्चर ऑव इण्डिया, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1967.

जैन, जगदीश चन्द्र : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965.

जैन हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, 1962.

डाउसेन पाल : फिलासफी ऑव उपनिषद्स, न्यूयार्क, 1966.

डि वैरी, विलियम (सं०) : सोर्सेज़ ऑव इण्डियन ट्रेडीशन, लन्दन, 1960.

डे, गोकुलदास : डेमोक्रेसी इन अर्ली बुद्धिस्ट संघ, कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1955.

तकाकुसु, जे० : ए रिकार्ड ऑव दी बुद्धिस्ट रेलिजन ऐज़ प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड मलाया, बाई इत्सिंग, आक्सफार्ड, 1896.

तलीम, एम० : विमेन इन अर्ली बुद्धिस्ट लिटरेचर, मुम्बई विश्वविद्यालय, 1972.

त्रिवेद, देव सहाय : प्राङ्मौर्य भारत, पटना, 1954.

त्रिवेदी, कृष्ण कुमार : प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज वाराणसी, 1987.

थामस, ई० जे० : दी हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्ट थाट, लन्दन, 1963. दी लाइफ ऑव बुद्ध ऐज़ लीजेण्ड एण्ड हिस्ट्री, लन्दन 1949.

दत्त, नलिनाक्ष : अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज़्म, कलकत्ता, 1960; अर्ली हिस्ट्री ऑव दी स्प्रेड ऑव बुद्धिज़्म एण्ड स्कूल्स, लन्दन, 1925; बुद्धिस्ट सेक्ट्स इन इण्डिया, कलकत्ता, 1977.

दत्त, नलिनाक्ष एवं बाजपेयी, कृष्ण दत्त : उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1956.

दत्त, सुकुमार : अर्ली बुद्धिस्ट मोनाशीज़्म, लन्दन, 1960; दी बुद्ध एण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज़, लन्दन,1957; बुद्धिस्ट मान्क्स एण्ड मोनास्टरीज़ इन इण्डिया, लन्दन, 1962.

दासगुप्ता, देबेन्द्र चन्द्र एवं सील, एस०सी० : जैन सिस्टम ऑफ एज्यूकेशन, कलकत्ता, 1942.

दुबे, सीताराम : बौद्ध संघ का प्रारंभिक विकास, गोरखपुर, 1960, बौद्ध युगीन भारत (सं) दिल्ली, 1996.

देव, शान्ताराम भालचन्द : जैन मोनास्टिक जूरिस्प्रूडेन्स, पूना, 1960; दी हिस्ट्री ऑव जैन मोनाशीज़्म फ्राम इन्सक्रिप्शन्स एण्ड लिटरेचर, डेकन कालेज डिसर्टेशन सिरीज़, पूना, 1956.

नारायण, ए० के० (सं०) : स्टडीज़ इन दी पालि एण्ड बुद्धिज़्म, दिल्ली, 1979; स्टडीज़ इन दी हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म, दिल्ली, 1980.

पाण्डे, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज़ इन दी ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज़्म, इलाहाबाद, 1957; बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1976; श्रमण ट्रेडीशन, इट्स हिस्ट्री एण्ड कान्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन कल्चर, अहमदाबाद, 1978.

पाण्डेय, राजबली : प्राचीन भारत, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, 1968.

पाण्डेय, विजयलक्ष्मी : बौद्ध संघ का स्वरूप एवं विकास, नई दिल्ली, 1997.

पाठक, विश्वम्भर शरण : ऐण्टिक्विटी ऑव श्रमण ट्रेडीशन, श्रीराम गोयल के "ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म" के प्राक्कथन के रूप में प्रकाशित (देखिए गोयल, एस०आर०)।

प्रिलुस्की, जीन : दी लीजेण्ड ऑव इम्परर अशोक इन इण्डियन एण्ड चाइनीज़ टैक्स्ट्स (मूल फ्रेंच भाषा से अनूदित), कलकत्ता, 1967.

पूसें, डी ला वेली : दी बुद्धिस्ट कौन्सिल्स, कलकत्ता, 1976.

फ्राउवाल्नर, ई० : दी अर्लिएस्ट विनय एण्ड दी बिगिनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट लिटरेचर, रोम, 1956.

फिक, रिचर्ड : दी सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, कलकत्ता, 1920.

बरुवा, बेनीमाधव : अशोक एण्ड हिज़ इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता, 1955; हिस्ट्री ऑव प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलासफी, कलकत्ता युनिवसिर्टी, 1925.

बापट, पी० बी० (सं०) : 2500 इयर्स ऑव बुद्धिज़्म, दिल्ली, 1971.

बारो, ए० : लेस सेक्ट्स बौद्धिक द पेतीत वेहिक्यूल, (बी० इ० एफ० इ० ओ०), 1956.

बील, सेम्युअल : बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑव दी वेस्टर्न वर्ल्ड, पुनर्मुद्रित, सुशील गुप्त, कलकत्ता, 1963; विनय ऑव धर्म गुप्ताज।

बुस्तोन (अनुवाद ई० ओबरमील) : हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म, 2 जिल्द, हीडेल बर्ग, 1931-32.

बैशम, ए० एल० : दी वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, लन्दन, 1959; हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन ऑव आजिविकाज़, ए वैनिश्ड इण्डियन रेलिजन, लन्दन, 1951.

बोगल, क्लेस्टिन : एसेस ऑन दी कास्ट सिस्टम, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी, 1971.

बोस, ए० एन० : द सोशियल एण्ड रूरल इकानामी ऑव नार्थ इण्डिया (दो जिल्दों में), कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1942.

भण्डारकर, डी० आर० : अशोक (हिन्दी), 1974; सम आस्पेक्ट्स ऑव ऐंश्येण्ट इण्डियन कल्चर, 1940.

भण्डारकर, रामगोपाल : वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रेलिजियस सिस्टम्स, स्ट्रासबुर्ग, 1913.

भागवत, कुमारी दुर्गा : अर्ली बुद्धिस्ट जूरिस्प्रूडेन्स, पूना, 1939.

मजूमदार, रमेशचन्द : कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1918.

मजूमदार, रमेशचन्द्र एवं पुसालकर, ए०डी०(सं०) : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव दी इण्डियन पीपुल, जिल्द 1 और 2 (क्रमशः दी वैदिक एज, दी एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी), बम्बई, 1951.

मललसेकर, जी० पी० : डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, दो जिल्दों में, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1960.

मललसेकर, जी०पी०एव : बुद्धिज़्म एण्ड दी रेस क्वेश्चन, यूनेस्को, 1958.

जयतिलक, के० एन० : ओरिजिन्स एण्ड डाक्ट्रिन्स ऑव अर्ली इण्डियन

मसूदा, जे० : बुद्धिस्ट स्कूल्स, एशिया मेजर, भाग 2, 1925.

महतो, मोहनलाल : जातककालीन भारतीय संस्कृति, दिल्ली, सं० 2015.

मिनयेफ, जे० पी० : रिसर्चेज़ सुर ले बुद्धिज़्म, पेरिस, 1894.

मिश्र, जी० एस० पी० : दी एज ऑव विनय, नई दिल्ली, 1972.

मूर्ति, टी० आर० वी० : दी सेन्ट्रल फिलासॉफी ऑव बुद्धिज़्म, ए स्टडी ऑव माध्यमिक सिस्टम, लन्दन, 1960.

मैकडानेल, ए० ए० और कीथ, ए० बी० : वैदिक इण्डेक्स ऑव नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, मोतीलाल बनारसीदास, 1959.

मोनियर, विलियम (सं०) : बुद्धिज़्म (पुनर्मुद्रित), वाराणसी, 1964.

राकहिल, डबल्यू०डबल्यू० : दी लाइफ ऑव बुद्ध, लन्दन, 1884.

राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासॉफी, जिल्द 1, न्यूयार्क, 1951; प्रिन्सिपल उपनिषद्स, लन्दन, 1953.

राबिन्सन, रिचर्ड ए० : दी बुद्धिस्ट रेलिजन : ए हिस्टारिकल इन्ट्रोडक्शन, बेलमान्ट, केलिफोर्निया, 1970.

रायचौधरी, एच० सी० : पालिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1972.

राय, जयमल : दी रूरल-अरबन इकानामी एण्ड सोशियल चेन्ज इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1974.

रीस डेविड्स, टी० डबल्यू० : लेक्चर्स ऑन दी ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव रेलिजन ऐज़ इलस्ट्रेटेड बाई सम पाइन्ट्स इन दी हिस्ट्री ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, लन्दन, 1882; बुद्धिज़्म, इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर, अमेरिकन लेक्चर्स ऑन दी हिस्ट्री ऑव रेलिजन्स, प्रथम सिरीज़, 1894-95; बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1959; बुद्धिस्ट स्टडीज़ (एस०बी०ई०) जिल्द 11 (पुनर्मुद्रित), 1973.

रीस डेविड्स,टी० डबल्यू० : पालि इंग्लिश डिक्शनरी, पालि टेक्स्ट सोसाइटी एण्ड स्टीड, विलियम(सं०) : लन्दन, 1925.

रे, हिमांशु० पी० : मोनास्ट्री एण्ड गिल्ड, नई दिल्ली, 1986.

रैप्सन, ई० जे० (सं०) : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जिल्द 1, द्वितीय भारतीय संस्करण, दिल्ली, 1962.

लाहा, बी० सी० : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, (दो जिल्दों में) लन्दन, 1933.

वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : अर्ली बुद्धिज़्म एण्ड इट्स ओरिजिन्स, नई दिल्ली, 1973.

वागले, नरेन्द्र : सोसाइटी एट दी टाइम ऑव दी बुद्ध, बम्बई, 1966

वाटर्स, टामस : ऑन दी युवान् श्वाङ्ग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, 2 जिल्दों में, लन्दन, 1904-05.

वार्डर, ए० के० : इण्डियन बुद्धिज़्म, दिल्ली, 1970.

विन्टरनिट्ज़, एम० : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द 2, कलकत्ता, 1977.

वेल्वल्कर, एस० के० एण्ड : हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासॉफी, जिल्द 2, दी क्रिएटिव

रानाडे, आर० डी० : पीरियड, पूना, 1927.

शर्मा, रामशरण : मटेरियल कल्चर एण्ड सोशियल फार्मेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1953; पूर्वकालीन समाज और अर्थ-व्यवस्था (हिन्दी में अनुवाद), वाराणसी, 1978.

शास्त्री, अजयमित्र : एन आउटलाइन ऑव अर्ली बुद्धिज़्म, वाराणसी, 1965.

स्पायरो, मेलफर्ड : बुद्धिज़्म एण्ड सोसाइटी, लन्दन, 1971.

शिल्प, पाल आर्थर (सं०) : दी फिलासॉफी ऑव सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, न्यूयार्क, 1952.

शूब्रिंग, वाल्थर : डाक्ट्रिन ऑव दी जैनाज़ (अंग्रेजी अनुवाद), दिल्ली, 1962; दी रेलिजन ऑव दी जैनाज़, कलकत्ता 1966.

श्रीमती रीस डेविड्स : गौतम दी मैन, 1928; साक्य ऑर बुद्धिस्ट ऑरिजिन्स, 1931; बुद्धिज़्म, 1934; व्हाट वाज़ दी आरिजिनल बुद्धिज़्म, 1938.

राहुल, वालपोल : हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म इन सीलोन (दी अनुराधापुर पीरियड, थर्ड सेन्चुरी बी० सी० – टेन्थ सेन्चुरी ए० सी०), कोलम्बो, 1956.

राहुल, वालपोल : व्हाट दी बुद्ध टॉट, (संशोधित संस्करण), न्यूयार्क, 1974.

सांकृत्यायन, राहुल : बुद्धचर्य्या, काशी, 1952.

श्वाइट्ज़र, अलबर्ट : इण्डियन थॉट् एण्ड इट्स डेवलपमेन्ट, 1936.

सांकल्या, एच० डी० प्रभृति (सं०) : प्राचीन भारत (हिन्दी अनुवाद), दिल्ली, 1978.

सिंह, मदनमोहन : बुद्धकालीन समाज और धर्म, पटना, 1972.

सेन, मोहित और राव, एस० वी० (सं०) : दास कैपिटल सेन्टेनरी वाल्यूम, ए सिम्पोज़ियम, दिल्ली, 1968.

व्हीलर, सर मार्टिमर : दी इण्डस सिविलाइजेशन, कैम्ब्रिज, 1968.

ह्यूम, राबर्ट अर्नेस्ट : थर्टीन प्रिन्सिपल उपनिषद्स, मद्रास, 1958.

हाल्ट, जॉन क्लीफोर्ड : डिसिप्लीन - द केनानिकल बुद्धिज़्म ऑव द विनय पिटक।

हार्डी, स्पेन्स : ईस्टर्न मोनाशीज़्म, 1850.

हार्नर, आई० बी० : दी अर्ली बुद्धिस्ट थियरी ऑव मैन प्रेडिक्टेड : ए स्टडी ऑव दी अर्हन, लन्दन, 1936; विमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज़्म, 1975.

हिरियन्ना, एम० : आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फिलासॉफी, लन्दन, 1964.

शोध-पत्र

किमुरा : इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री ऑव अर्ली बुद्धिस्ट स्कूल्स, आशुतोष मुकर्जी सिलवर जुबली वाल्यूम, 3, ओरियण्टल, भाग 3.

कोसाम्बी, डी०डी० : ऐंश्येण्ट कोसल एण्ड मगध, जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी, बॉम्बे, 1952.

गेडेन, ए० एस० : एसिटिसिज़्म (हिन्दू), इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन्स एण्ड एथिक्स, जिल्द 2, तृतीय संस्करण, एडिनबर्ग, 1951.

गोखले, बी० जी० : दी बुद्धिस्ट सोशियल आइडियल्स, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 32, 1956; दी अर्ली बुद्धिस्ट इलीट, जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 43, 1965; ब्राह्मणाज़ इन अर्ली पालि लिटरेचर, जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री, जिल्द 48, 1970.

चक्रवर्ती, डी० के० : बिगनिंग ऑफ आयरन एण्ड सोशियल चेन्ज इन इण्डिया, इण्डियन स्टडीज–पास्ट एण्ड प्रजेन्ट, वाल्यूम–14, 1973.

चन्दा, रा० प्र० : सर्वाइवल ऑव दी प्री-हिस्टारिक सिविलाइजेशन ऑव दी इण्डस वैली, मेमायर्स ऑव आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, जिल्द 41.

चानना, देवराज : दी विनयपिटक एण्ड ऐंश्येण्ट इण्डियन जूरिस्प्रूडेन्स, जर्नल ऑव दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 44, 1958.

जॉली, जे० डबल्यू० : दी बैकग्राउण्ड ऑव अर्ली बुद्धिज़्म, जर्नल ऑव इण्डियन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज़, वाल्यूम ग्प, 1964.

जैकोबी, एच० : जैनिज़्म, इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन्स एण्ड एथिक्स, जिल्द 7, तृतीय संस्करण, एडिनबर्ग, 1955.

डियान्गा, जे० डबल्यू० : दी बैकग्राउण्ड ऑव अर्ली बुद्धिज़्म, जर्नल ऑव इण्डियन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज़, जिल्द 12, 1964.

दत्त, नलिनाक्ष : प्लेस ऑव लेइटी इन अर्ली बुद्धिज़्म, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 21, 1945.

फिशर, आई० : दी प्राब्लम ऑव दी सेट्ठी इन दी बुद्धिस्ट जातकाज़, आर्काइव ओरियण्टलानी, वाल्यूम XXIV, 1954

बरुआ, दीपक कुमार : बुद्धिस्ट एथिकल डिस्कोर्सेज़ टू दी लेइटी, महाबोधि, 1967.

बरुआ, वी० एम० : आजीविक - व्हाट इट मीन्स, अनल्स ऑव भण्डारकर, रिसर्च इन्स्टिट्यूट, जिल्द 8, 1927.

रिनपोचे, एस० : सोशल एण्ड पोलिटिकल स्ट्रेटा इन बुद्धिस्ट थाट, महाबोधि, जिल्द 82, 1974.

रीस डेविड्स, टी०डबल्यू० : बुद्धिस्ट ला, इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन्स एण्ड एथिक्स, जिल्द 7, तृतीय संस्करण, एडिनबर्ग, 1955.

वार्डर, ए० के० : आन दी रिलेशनशिप्स बिट्विन अर्ली बुद्धिज़्म एण्ड अदर कान्टेम्पोरेरी सिस्टम्स, बुलेटिन ऑव दी स्कूल ऑव ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज़, जिल्द 18, भाग 1, 1956.

श्रीमती रीस डेविड्स सी० ए० एफ० : दी रिलेशन्स बिट्विन अर्ली बुद्धिज़्म एण्ड ब्राह्मणिज़्म, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, वाल्यूम 10, 1934; बुद्धिस्ट एसेटिसीज़्म, इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन्स एण्ड एथिक्स, जिल्द 2, तृतीय संस्करण, एडिनबर्ग, 1953.

सोनी, आर० एल० : सोशल डाइमेन्शन्स ऑव बुद्धिस्ट लाइफ, महाबोधि, 1967.

हार्नले, ए० एफ० आर० : आजीविकाज़, इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन्स एण्ड एथिक्स, जिल्द 1, तृतीय संस्करण, एडिनबर्ग, 1955.

शब्दानुक्रमणिका

अड्.ग 20
अग्निदत्त 29
अड्.गुलिमाल 112
अजातशत्रु 26, 34, 77, 86 117, 172
अचेल कस्सप 106
अड्ढयोग 154
अधिकरणशमथ 144
अनड्.गण सुत्त 70
अनाथपिण्डक 18, 20, 27, 89, 106, 119, 162
अनियत 144
अनुपिया वन 76
अनुपद सुत्त 121
अनुरूद्ध 29, 77, 174
अभयमाता 107
अम्बट्ठ 85
अम्बपालिवन 83
अम्बपालिसुत्त 125
अमितोदन 77
अमूढ विनय 149
अवन्ति 1, 18, 31, 73, 109, 114, 176
अस्सजी 27, 68, 110
अष्ट माँग 180, 194
अष्टमागन्दिय 74
अष्टमी 138
अषाढ़पूर्णिमा 141
अश्वजीत 43
अशोक 21, 46, 70, 70 ,173
आचार्यवाद 185
आजीविक 17, 21, 27, 33, 35
आम्रपाली 83, 107, 120
आलार कलाम 24, 30
इसिदासी 64, 74
इसिदिन्न 114
इत्सिंग 186
उत्तरानन्दमाता 106
उदकसाटी 92
उदयन 29, 75, 91, 93, 117
उद्दक रामपुत्त 24
उदायिन 173
उद्वाहिका 150, 171
उपसम्पदा 80, 158, 161
उपतिष्य 69
उपाध्याय 158
उपालि 42, 81, 107, 151
उपोसथ 9, 176

उरुवेलकश्यप 26, 75
ऋषिपत्तन 24, 80, 110
एकब्बोहांरिक 187
कपिलवस्तु 28, 29, 119
कम्मासदम्म 30
कलन्दक निवाप 26
कषाय 156
कसि भारद्वाज 34, 65
कसि भारद्वाज सुत्त 65
कालक 120
कालाशोक 174, 180
काश्यपबन्धु 25, 44, 181
काशी 26, 27, 110, 117
कीटागिरी 27
कीटागिरी निगम 110
कीटागिरी सुत्त 27
कुरू 30
कुरुजनपद 113
कुशीनारा 30, 31, 172
कूटदन्त 69, 84
केणिय जटिल 161
कोलंकोल 159
कोलित 44
कोलिय 29, 18
कोशल 18, 20, 28, 111, 119, 140
कौशाम्बी 20, 29, 112, 180
खग्गविषाणसुत्त 121
खज्जुत्तरा 91, 93
खाणुमत 84
खेमा 117
गग्गरा 84
गणिका अम्बपाली 28
गणक मोग्गलान 163
गणतन्त्र 18, 22
गया 172
गवाम्पति 44, 80
गुहा 139
गोक्कुलिक 187
गोमूत्र 156, 157
गोसिंग सालवन 37
घोषित 93, 113
घोषिताराम विहार 65, 120
चक्रवर्ती 31
चण्डप्रद्योत 86, 114, 117
चतुर्दशी 138, 144
चतुर्तिश्रय 9, 32, 33, 37, 100, 137
चतुर्वर्ग संघ 148
चतुष्परिषद 3
चंक्रमण 129, 159
चंक्रमणशाला 87
चन्द्रगुप्त 194
चातुद्दिसभिक्खुसंघ 33, 172
चित्त संयुत्त 90
चुन्दकुम्मरिपुत्र 30, 31
चुल्लवेदल्ल सुत्त 83
चूलकाल 65
चैत्य 175
छन्न 78, 180
जन्ताघर 87
जम्बूद्वीप 16

जनपदकल्याणी 79
जानुस्सोणि 103
जीवककौमार भृत्य 50, 65, 111
जीवक सुत्त 87
जेत राजकुमार 89
जेतवन 27
जेतवनाराम 89, 119
डकैत 48
तर्जनीय 145
तप्पापीयसिक 150
तपुस्स 24
तक्षशिला 109, 115
तारानाथ 170, 174, 190
तिणवत्थारक 156, 166
तिस्स 115
तेकिच्चकारि 64
तेविज्ज सुत्त 121
तोदेय्य 103, 111
थेर गाथा 11, 44, 46, 107
थेरी गाथा 11, 44, 46, 107
दर्भ मल्लपुत्र 149
दसकप्प 181, 183
दसवर्ग भिक्षुसंघ 148
दक्षिणाविभंग सुत्त 82
द्वितीय संगीति 174, 183
द्विशरणगमन 24
दीपवंश 186
देवदत्त 69, 75, 77, 105, 117
द्रोण 175, 200
धर्मकथिक 90
धमदिन्ना 83
धनन्जानि 69, 85
धर्मचक्रप्रवर्त्तन 12, 25, 26, 31, 32
धर्मप्रचारक संस्थान 108
धर्मबहुल 129
धर्मबिहारी 129
धर्मविनय 8, 31, 32, 189
धर्मसेनापति 70, 102
नकुल माता–पिता 29, 112
नगर विन्देय्य 129
नन्द 79, 105
नन्दुत्तरा 113
निगण्ठ 26, 28, 33, 35
निगण्ठनातपुत्त 92
निराशावादी 23
पकुध कच्चायन 21, 22
पक्कुस 30, 31
पञ्चनेकायिक 8, 11
पञ्चनीक ब्राह्मण 53
पञ्चआवास 154, 161
पञ्चवर्गीय भिक्षुसंघ 24, 25, 35, 44, 101, 106, 109
पञ्चशाला 26
पटाचारा 48, 64
पाचित्तिय 144
पाटलिपुत्र 187
पाटिदेशनीय 144
पाराजिक 144

पावारिक 113, 120
पिण्डोल भारद्वाज 74, 75, 103, 112, 117
पिलिन्दवच्छ 149, 155
पुद्गल 188
पुनब्बसु 27
पुराणकश्यप 176
पूण्ण 114
पूर्णवर्द्धन 92
पूरणकस्सप 22
पौषकरसादि 69, 85, 103
प्रजापति गौतमी 161
प्रोटेस्टेन्ट 3, 20
प्रथम संगीति 8, 12, 72, 173, 175, 176
प्रातिमोक्ष 76, 143
प्रातिमोक्ष पाठ 137, 138, 144
प्रातिहार्य प्रदर्शन 90
प्रव्रज्या 25, 32, 43, 68, 80, 92
प्रवारणा 9, 143
प्रसेनजित 18, 27, 48, 49, 103, 111
बिम्बिसार 18, 21, 24, 25, 26, 77, 83, 84, 111, 115, 117
बोधिराजकुमार 112
बोधिराजकुमार सुत्त 123
बुद्धचर्या 27
बौद्ध स्थापत्य 200
ब्रह्मदण्ड 78, 180
ब्रह्म महूर्त 129
ब्रह्मायु 27, 65, 111
ब्राह्मणवादी 63, 100
भण्डग्राम 30
भद्दाकुण्डलकेशा 48, 83
भद्दालि सुत्त 164
भद्दिय 111
भद्दिया 27, 91
भद्दियवती 48, 90
भद्रवर्गीय 25
भरहुत 8, 13
भर्ग देश 29, 112
भिक्खकुसुत्त 65
भिक्षुणीसंघ 29, 34, 78, 82, 112
भेसकलावन मृगदाय 29, 112
मगध 18, 26, 72, 100, 111, 115
मच्छिकासण्ड 27, 89, 110
मंजूश्रीमूलकल्प 170, 174, 190
मज्झिमकाल 65
मज्झिमा जनपद 16, 109, 110, 113
मठीयकृत्य 149
मथुरा 109
मल्लिका 48
महाकस्सप 26, 72, 103, 117, 124, 161, 173, 175, 176, 185, 196
महाकात्यायन 73, 80, 103, 109, 113, 114, 117, 161
महाकाल 65
महागोसिंग सुत्त 72
महादेव 181, 187
महानाम 89, 90

महापद्मनन्द 174
महापरिनिब्बान सुत्त 31, 122, 128, 170, 190
महावंश 186, 170
महावीर स्वामी 112
महासंघिक 186, 187, 190, 200
महीशासक 188, 200
मागन्दिय 30, 91, 107
मुण्ड 173
मेण्डक 19, 20, 21, 28, 91, 111, 162
मौदगल्यायन 22, 23, 26, 71, 77, 102, 111, 155
मृगार 92
यद्भूयसिक 150
यवागूपान 82
यश 43, 69, 79, 106, 110
यशकाकण्ड पुत्र 171, 181
यज्ञ यागदि 19
रट्ठपाल 113
राजगृह 23, 26, 88
राहुल 28, 70, 117, 188
राजगहसेट्ठि 111, 118
राष्ट्रपिण्ड 33
रोजमल्ल 30
रोहिणी नदी 112
रीक्ष 150
लोमश वङगीश 65, 103, 111
लोहिच्च 49, 144
वङ्गीश 113
वज्जी 18, 28, 112
वज्जिपुत्तक 170, 181, 200
वत्स 18, 29, 42
वशिष्ठ 23, 111
वसुमित्र 183
वस्सकार 49
वर्षावास 23, 26, 29, 30, 40, 87, 136, 141, 162
वाराणसी 25, 44, 106, 110, 118
विनयकर्म 9
विनयघर 81, 178
विनीत देव 183
विमल 44
विवादशमथ 9
विशाखा 91, 106, 111, 120, 152, 162
वेणुवन 117
वेनागपुर 129
वेरञ्जक ब्राह्मण 29
वेरञ्जा 29
वैदिक संस्कृति 19
वैनयिक संस्थान 185
वैशाली 112, 118
वैश्यगृहपति 50, 106, 118, 136
वर्षोपनायिका 142
संगीतिपर्याय सुत्त 90, 94
संघकम्म 147, 176
संघ भेद 142
संघादिशेष 144
संघदीक्षा 19, 23, 47, 102, 111, 116, 158

संघीय विधान 18
सङ्गारव 86
संदेहवादी 22
सच्चक 28
सञ्जय परिव्राजक 69, 102
सञ्जय बेलट्ठिपुत्त 21, 69
सत्तखत्तु–परम 159
समन्त–पासादिका 176
सम्मुख विनय 149
सरकानिशाक्य 118
सहजाति 29
साँची 8, 13
साणवासी 175
सामञ्ञफल सुत्त 128
सामा 107
सामावती 49, 90, 93, 117
सारनाथ 31, 110
सारिपुत्र 22, 63, 69, 70, 71, 83, 111, 188
सारिपुत्त सुत्त 71
सालवती 86, 103
सिरिमण्ड 112
सुनीथ 49
सुप्पबुद्ध 76
सुप्पिया 27, 62, 93, 110
सुबाह 43
सुभद्द 107, 173, 175
सुभद्दा 120 ,174
सुमना 117
सुंसमारगिरी 112
सोणकोटिविंश 162
सोणदण्ड 69, 84, 111
सोणकुटिकर्ण 80, 114
सौवीर 109, 114, 115
स्थविरवादी 10
स्मृति प्रस्थान 130, 131
स्मृति विनय 149
शयनासन 117
शलाकाग्रहापक 150
शाक्यपुत्रीय श्रमण 43
शास्ता 184
शुद्धोदन 28
शूकरमद्दव 131
शूद्र 19
शूरसेन 28, 79, 117
शैल ब्राह्मण 92, 111
श्रामणेर 142, 149, 159
श्रामणेरी 142, 149, 159
षड्वर्गीय भिक्षु 129, 171
षडायतन विभक्ति 90
षोडष महापनपद 16
हत्थक गृहपति 87, 113
हर्म्य 139
हलिद्दिदानि 114
हलिदिदकानिगृहपति 74
क्षुद्रशोभित 182
क्षत्रिय 50, 104, 112, 135
त्रिकोटिपरिशुद्ध 153
त्रिशरण 9, 48, 103, 106

ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स
(प्राच्य ग्रन्थों के प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
29/5, शक्ति नगर, दिल्ली-110007